भावना भव नाशनी

भाग-1

संकलन/संपादन

बा.ब्र. रोहित भैया

(सम्प्रति संधानसागर जी महाराज)

संघस्थ आचार्य श्री 108 विद्यासागरजी महाराज

आशीर्वाद
आचार्य 108 श्री
विद्यासागर जी महाराज

भावना भव नाशनी पुस्तक के प्रेरणास्त्रोत

मुनि श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज

ॐ

भावना भव नाशनी

भाग-1

(आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित महत्वपूर्ण ग्रन्थों के कतिपय
जनोपयोगी गाथाओं का संकलन)

आशीर्वाद

परम आराध्य दीक्षा गुरु संत शिरोमणि परम पूज्य
108 आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज

संकलन

परम पूज्य 108 मुनि श्री संधानसागरजी महाराज

प्रकाशक

निर्ग्रंथ फाउण्डेशन, भोपाल

कृति	-	भावना भव नाशनी (भाग-1)
संस्करण	-	प्रथम, विजयादशमी 2019
आवृत्ति	-	1100 प्रतियाँ
मूल्य	-	सदुपयोग
पुण्यार्जक	-	रक्षित राकेश ठोला (जैन) इन्दौर (म.प्र.)
प्राप्ति स्थल	-	1. श्री प्रशान्त जैन, भोपाल (म.प्र.) मो. 9617700813 2. 'गुणायतन' शिखर जी, मधुवन फोन : 06558-232438
मुद्रक	-	विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स 45, सेक्टर-एफ, औद्योगिक क्षेत्र, गोविन्दपुरा, भोपाल-462023 (म.प्र.) फोन : 0755-2601952, 9425005624

अनुक्रम

			पृष्ठ सं.
1.	समयसार	आचार्य कुन्दकुन्द	5-27
2.	पंचास्तिकाय	आचार्य कुन्दकुन्द	28-35
3.	प्रवचनसार	आचार्य कुन्दकुन्द	36-48
4.	नियमसार	आचार्य कुन्दकुन्द	49-59
5.	अष्टपाहुड़	आचार्य कुन्दकुन्द	60-74
6.	द्वादशानुप्रेक्षा	आचार्य कुन्दकुन्द	75-77

मंगल-कामना

जैनाचार्यों ने अपने जीवन में गहन साधना एवं आराधना से आत्मकल्याण का जो सूत्र अनुभव के धरातल पर प्राप्त किया उसे उन्होंने अपने तक सीमित न रखकर अपनी लेखनी से गूँथकर ग्रन्थ के रूप में तत्कालीन जन सामान्य की भाषा में हम सब के लिए प्रदान कर दिया। उनके अनुकंपापूर्ण इस प्रयास का ही फल है कि आज हमारे पास जैन आगम एवं अध्यात्म ग्रन्थों का विशाल भण्डार उपलब्ध है।

आचार्यों ने तो अपनी महती अनुकंपा से हमें एक से बढ़कर एक ग्रन्थ रचकर दे दिये परन्तु आज पश्चिमी संस्कृति एवं आर्थिक चकाचौन्ध से प्रभावित व्यक्तियों के पास आचार्यों द्वारा रचित प्राकृत एवं संस्कृत जैसी गाथाओं को समझने की न तो योग्यता ही रह गयी है और न ही अवकाश, की उन ग्रन्थों का अध्ययन-मनन कर सकें। ऐसी विषम परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के युवा शिष्य नव दीक्षित मुनि श्री संधानसागरजी महाराज ने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड, ज्ञानार्णव, रत्नकरण्डक श्रावकाचार, द्रव्य संग्रह, समाधिशतक आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों से चुनिन्दा महत्वपूर्ण गाथाओं का सहज ग्राह्य एवं सरल अर्थ सहित संकलन कर लघु पुस्तिका के रूप में प्रस्तुत कृति 'भावना भव नाशनी' 2 भागों को साकार रूप दिया है जो सर्व साधारण के हितार्थ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्तुत्य एवं प्रशंसनीय प्रयास है जिसके माध्यम से आज का व्यस्त मानव व्यस्ततम् जीवन की आपाधापी के मध्य अल्प ज्ञान-प्रयास एवं समय लगाकर पाठ भर भी कर ले तो सुखी-शांत और समृद्ध जीवन का सूत्र प्राप्त कर सकता है।

निरंतर पाठ करते रहने से भावनाएँ परिष्कृत एवं समृद्ध होती हैं जो आचार्यों के कथनानुसार भव नाश का प्रबल हेतु होती हैं। अतः प्रस्तुत कृति का नाम ''भावना भव नाशनी'' उपयुक्त ही नहीं सार्थक भी है।

पूज्य मुनिश्री ने प्रस्तुत कृति की रूपरेखा अपने ब्रह्मचारी अवस्था में ही

तैयार करके उसे साकार करने की मनोभावना बनायी थी जो अब दीक्षोपरान्त अर्जित सातिशय पुण्य एवं आचार्य श्री के आशीर्वाद से साकार रूप ले पायी है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत कृति जन सामान्य के बीच काफी लोकप्रिय होगी। पूज्य मुनिश्री के इस महत्वपूर्ण योगदान के लिए संपूर्ण जैन जगत उनका सदैव ऋणी रहेगा।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन में श्री रक्षित राकेश ठोला (जैन), इन्दौर (म.प्र.) के उदारतापूर्ण आर्थिक सहयोग एवं सुन्दर मुद्रण के लिए विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, भोपाल के सत् प्रयास की मैं भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूँ।

पूज्य मुनिश्री अपनी निर्दोषचर्या, कठोर साधना एवं गहन अध्ययनशीलता के बल पर अल्प समय में ही संघ में ही नहीं अपितु जन-जन के बीच भी काफी लोकप्रिय हो गये हैं। आपकी रत्नत्रय की साधना सानंद निर्विघ्न चलती रहे, आप चिरायु हों और मैं भी आप जैसा साधक बनकर आत्म कल्याण का पथिक बन सकूँ, इसी मंगल कामना के साथ आचार्यश्री के चरण कमलों में शत्-शत् नमन करता हुआ पूज्य मुनिश्री के चरण कमलों में सविनय सादर नमोस्तु! नमोस्तु! नमोस्तु!

गया (बिहार)
दिनांक 01/01/2019

चरण-सेवक
ब्र. विमल कुमार सेठी
गया (बिहार)

संत शिरोमणि आचार्य 108 श्री विद्यासागरजी महाराज के प्रवचन मुनि श्री 108 संधानसागरजी महाराज द्वारा लिखित (14 भाग में)
एवं
अन्य बहुत सी जानकारी प्राप्त करें :-
aagamdata.blogspot.in

समयसार

स्वसमय और परसमय का लक्षण

जीवो चरित्तदंसण-, णाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्-,ठ्यिं च तं जाण परसमयं॥ 2॥

अर्थ:- जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित होकर (तद् रूप) रहता है वह स्वसमय (मुक्त जीव) है व जो पौद्गलिक कर्म प्रदेशों में स्थित होकर रहता है वह परसमय (संसारी जीव) है॥ 2॥

'समय' की सुन्दरता

एयत्तणिच्छयगओ, समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहाएयत्ते, तेण विसंवादिणी होदि॥ 3॥

अर्थ:- जो जीव एकत्व के साथ निश्चितरूप से एक होकर रहता है वह इस संसार में सब ठौर सुन्दर है अर्थात् सबको सुहावना है किन्तु उस एकत्व में बंध की कथा विसंवाद करने वाली है- अर्थात् एकाकीपन में बंध कभी संभव ही नहीं है, बंध सदा दो में होता है॥ 3॥

एकाकीपना दुर्लभ

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलभो विहत्तस्स॥ 4॥

अर्थ:- काम, बन्ध और भोग की कथा तो सबही जीवों के सुनने में भी आई है, परिचय में भी आई है तथा अनुभव में भी आई है किन्तु सबसे पृथक् होकर केवल एकाकी होने की बात सुलभ नहीं है॥ 4॥

शुद्धात्मा का स्वरूप

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धा, णादा जो सो दु सो चेव॥ 6॥

अर्थ:- जो प्रमत्त और अप्रमत्त इन दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठकर केवल ज्ञायक स्वभाव को ग्रहण किये हुए है वह शुद्धात्मा है ऐसा शुद्धनय के जानने वाले महापुरुष कहते हैं॥ 6॥

शुद्धनय का लक्षण

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं, तं सुद्धणयं वियाणीहि॥ 16॥

अर्थ:- जो आत्मा को बंध रहित, परके स्पर्श रहित, अन्यत्व रहित चलाचल रहित, विशेष रहित और अन्य के संयोग रहित अवलोकन करता है वह शुद्धनय है॥ 16॥

शुद्धात्म-भावना

आदा खु मज्झ णाणे, आदा में दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे, आदा में संवरे जोगे॥ 18॥

अर्थ:- मेरे दर्शन, ज्ञान और चारित्र में तथा प्रत्याख्यान में एवं संवर में और ध्यान के समय में केवल आत्मा ही आत्मा है ऐसा ज्ञानी का विचार होता है॥ 18॥

आत्मा कब तक अज्ञानी रहता है ?

कम्मे णोकम्महि य,अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी, अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥22॥

अर्थ:- जब तक इस आत्मा के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागद्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में 'मैं कर्म-नोकर्म हूँ और ये कर्म-नोकर्म मेरे हैं'

ऐसी प्रतीति होती रहती है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी है ॥ 22 ॥

अज्ञानी जीव की पहचान

अहमेदं एदमहं, अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं, सच्चित्ताचित्त मिस्सं वा ॥25 ॥

अर्थः- आत्मा अपने आप से भिन्न सचित्त स्त्री-पुत्रादि, अचित्त मुकुट-कुण्डलादिक और मिश्र आभरण सहित स्त्री आदि इन वस्तुओं में, मैं सो यह है, यह है सो मैं हूँ, मैं इनका हूँ ॥ 25 ॥

अप्रतिबुद्ध जीव का लक्षण

आसि मम पुव्वमेदं, अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि।
होहिदि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि ॥26 ॥

अर्थः- ये मेरे पहले थे, मैं पहले इनका था, आगे भी ये मेरे होंगे और मैं इनका होऊँगा ॥ 26 ॥

अप्रतिबुद्ध और प्रतिबुद्ध जीव का लक्षण

एवं तु असंभूदं, आदवियप्पं करेदि संमूढ़ो।
भूदत्थं जाणंतो, ण करेदि दु तं असंमूढ़ो ॥27 ॥

अर्थः- इस प्रकार का संयोगात्मक विकल्प करता है वह मूढ़ अर्थात् मोहभाव का धारक होता है किन्तु जो मोह रहित अर्थात् संयत होता है वह भूतार्थ (निश्चयनयात्मक) आत्मस्वरूप को अनुभव करता हुआ इन सब विकल्पों से दूर रहता है ॥ 27 ॥

अज्ञानी जीव की कल्पना

अण्णाणमोहिदमदी, मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा, जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥28 ॥

अर्थ:- अज्ञान से ठगी हुई बुद्धि वाला संसारी प्राणी अपने साथ में मिलकर रहने वाले शरीर और अपने से पृथक गहने इत्यादि पुद्गल-द्रव्य को अपना कहता है, नाना प्रकार की रागद्वेषादि रूप कल्पना करता है॥ 28॥

आचार्य द्वारा प्रतिबोध

सव्वण्हुणाणदिट्ठो, जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पुग्गलदव्वी, भूदो जं भणसि मज्झमिणं॥29॥

अर्थ:- इस पर आचार्य कहते हैं कि हे भाई! जब सर्वज्ञ भगवान ने जीव को नित्य उपयोग लक्षण वाला देखा है तो फिर वह पुद्गल द्रव्य रूप कैसे हो सकता है? जिससे कि तू पुद्गलात्मक पदार्थ को मेरा-मेरा कहता है॥ 29॥

अप्रतिबुद्ध जीव को समझाने के लिये उपाय

जदि सो पुग्गलदव्वी, भूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्का वुत्तुं जे, मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं॥30॥

अर्थ:- हाँ, यदि जीवद्रव्य पुद्गल रूप हो जाये तो पुद्गल द्रव्य भी जीव रूप हो जाये, तब तू कह सकता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है, पर ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता, अतः तेरा यह कहना भूल भरा है॥ 30॥

आत्मज्ञानी ही जितेन्द्रिय है

जो इंदिए जिणित्ता, णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू॥36॥

अर्थ:- निश्चय में तत्पर रहने वाले अर्थात् आत्मा का अनुभव करने वाले साधु लोग उसको जितेन्द्रिय कहते हैं, जो इन्द्रियों को वश में करके अपने ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण अपनी आत्मा का ही अनुभव करता है॥ 36॥

मोह से निर्ममत्व

णत्थि मम को वि मोहो, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति॥ 41॥

अर्थ:- मोह- पर को अपनाना, उससे मेरा कोई भी संबंध नहीं है उससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, मैं तो केवल उपयोग स्वरूप हूँ इस प्रकार के जानने को सिद्धान्त के जानकार लोग निर्मोहपना कहते हैं॥ 41॥

पर-द्रव्यों से निर्ममत्व

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति॥ 42॥

अर्थ:- मैं तो केवल एक उपयोग स्वभाव हूँ धर्मादि (अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और इतर जीवद्रव्य) द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं हैं। इस प्रकार जो जानता है उसे सिद्धान्त के जानने वाले पुरूष धर्मादि पर-द्रव्यों से निर्ममत्व हुआ कहते हैं॥ 42॥

मैं कैसा हूँ ?

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि॥ 43॥

अर्थ:- ज्ञानी जीव का ऐसा विचार होता है कि मैं एकाकी हूँ शुद्ध हूँ अर्थात् पर-द्रव्य के संबंध से सर्वथा रहित हूँ दर्शन -ज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ, अतः इन सब बाह्य पर-द्रव्यों में मेरा परमाणु मात्र भी नहीं है॥ 43॥

परमार्थ जीव का स्वरूप

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥ 54॥

अर्थ:- शुद्ध जीव तो ऐसा है कि जिसमें न रस है, न रूप है न गंध है और

न इन्द्रियों के गोचर ही है केवल चेतना गुणवाला है। शब्दरूप भी नहीं है, जिसका किसी भी चिह्न द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता और जिसका कोई निश्चित आकार भी नहीं है ॥ 54 ॥

विशेष : आचार्य श्री 108 विद्यासागरजी महाराज कहते हैं कि ये गाथा आचार्य कुन्दकुन्द की बहुत ही प्रिय गाथा थी, तभी तो उनकी सभी कृतियों में यह गाथा दी है। मूलाचार में भी यह देखने को मिलती है।

वर्णादि भाव जीव के परिणाम नहीं

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं, णवि संठाणं ण संहणणं ॥ 55 ॥

अर्थ:- वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और रूप तथा संस्थान और संहनन ये जीव के स्वभाव नहीं हैं ॥ 55 ॥

जीवस्थानादि जीव के परिणाम नहीं

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे, पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ 60 ॥

अर्थ:- जीवस्थान और गुणस्थान भी जीव के स्वभाव नहीं हैं किन्तु ये सब ही पुद्गलद्रव्य के संयोग से होने वाले परिणाम हैं ॥ 60 ॥

क्रोधादिक में प्रवृत्ती कैसे ?

जाव ण वेदि विसेसं-तरं तु आदाऽसवाण दोण्हंपि।
अण्णाणी तावदु सो, कोधादिसु वट्टदे जीवो ॥ 74 ॥

अर्थ:- यह जीव जब तक आत्मा और आस्रव इन दोनों में विशेष अंतर नहीं जानता है तब तक वह अज्ञानी बना रहता है तभी तक क्रोधादि आस्रवों में प्रवृत्त रहता है ॥ 74 ॥

क्रोधादिक से नवीन बन्ध

कोधादिसु वट्टंतस्स, तस्स कम्मस्स संचओ होदि।
जीवस्सेवं बंधो, भणिदो खलु सव्वदरसीहिं॥ 75॥

अर्थ:- अतः क्रोध आदि में प्रवृत्त होने वाले के नवीन कर्मों का बंध भी होता रहता है। सर्वज्ञ भगवान् ने नूतन कर्म बंध होने का यही ढंग बतलाया है॥ 75॥

नवीन बन्ध का निरोध कैसे ?

जइया इमेण जीवेण, अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसं-तरं तु तइया ण बंधो से॥ 76॥

अर्थ:- जिस समय यह जीव आत्मभाव और आस्रवभावों में जो विलक्षणता है उसे अपने उपयोग में भली प्रकार उतारता है अर्थात् क्रोधादिक रूप परिणमन नहीं करता उस समय नूतन बंध नहीं होता है॥ 76॥

आस्रव से निवृत्ति किस प्रकार

णादूण आसवाणं, असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य, तदो णियत्तिं कुणदि जीवो॥77॥

अर्थ:- जब यह जीव आस्रवों के अशुचिपने को, जड़तारूप विपरीतपने को और दुःख के कारणपने को जान लेता है तब अपने आप उनसे दूर रहता है॥ 77॥

आत्म स्वभाव में स्थिति से आस्रवों का क्षय

अहमिक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तह्मि ठिदो तच्चित्तो, सव्वे एदे खयं णेमि॥ 78॥

अर्थ:- ज्ञानी समाधिस्थ जीव विचारता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ। अतः उसी स्वभाव में स्थित होता हुआ एवं चैतन्य के अनुभव में लीन होता हुआ मैं उन क्रोधादि सब आस्रव भावों का क्षय करता हूँ॥ 60॥

ज्ञानी आस्रवों से निवृत्त होता है

जीवणिबद्धा एदे अधुवा अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफलाणि य, णादूण णिवत्तदे तेहिं ॥79॥

अर्थ:- जीव के साथ लगे हुए ये क्रोधादिक आस्रव भाव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दु:खरूप हैं और जिनका फल दु:ख ही है, ऐसा ज्ञानी जब जान लेता है तब उसी समय उनसे दूर हो जाता है॥ 79॥

ज्ञानी की पहचान

कम्मस्स परिणामं, णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एदमादा जो, जाणदि सो हवदि णाणी ॥80॥

अर्थ:- यह आत्मा उपादानरूप से कर्म के परिणाम का और नोकर्म के परिणाम का करने वाला नहीं है, इस प्रकार जो जानता है अर्थात् समाधिस्थ होकर अनुभव करता है वही ज्ञानी होता है॥ 80॥

आत्मा भावों के अनुरूप भावों का कर्त्ता है

जं कुणदि भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णाणिस्स दु णाणमओ, अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥134॥

अर्थ:- यह आत्मा जिस समय जैसा भाव करता है उस समय उसी भाव का कर्ता वह होता है, अत: ज्ञानी के ज्ञानमय और अज्ञानी (संसारी) के अज्ञानमय भाव होते हैं॥ 134॥

ज्ञान और अज्ञानमय भाव का कार्य

अण्णाणमओ भावो, अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ॥135॥

अर्थ:- अज्ञानी-रागीद्वेषी जीव के (आर्तरौद्ररूप) अज्ञानमयभाव ही होता

है जिससे वह कर्मों को करता रहता है, किन्तु ज्ञानी-विरागी या समाधिस्थ-जीव के ज्ञानमय भाव ही होते हैं अतः ज्ञानी किसी भी प्रकार का कर्म नहीं करता है ॥135॥

हे भव्य! तू कर्मों में राग मत कर

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥157॥

अर्थः- रागी जीव तो कर्मों का बंध करता है और वैराग्य को प्राप्त हुआ जीव कर्मों से मुक्त होता है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है इसलिये शुभाशुभ कर्मों में रंजायमान मत होओ॥ 157॥

ज्ञान निर्वाण का कारण है

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥158॥

अर्थः- निश्चय कर परमार्थरूप जीवात्मा का स्वरूप ऐसा है कि जो शुद्ध है, केवली है, मुनि है अर्थात् संसार की बातों से मौन रखने वाला है और ज्ञानी है। इस प्रकार ये जिसके नाम हैं उस स्वभाव में स्थित होकर, तन्मय होकर ही मुनि लोग निर्वाण को प्राप्त होते हैं॥ 158॥

अज्ञानी का व्रत-तप अज्ञानमय है

परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि।
तं सव्वं बालतवं, बालवदं विंति सव्वण्हू॥ 159॥

अर्थः- जो कोई ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थित नहीं हो रहा है और तप करता है तथा व्रतों को धारण करता है तो उसके व्रत और तप को सर्वज्ञदेव 'अज्ञानतप' और 'अज्ञानव्रत' कहते हैं॥ 159॥

अज्ञान भाव युक्त पुण्य संसार का कारण है

परमट्ठबाहिरा जे, ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं, वि मोक्खहेउं अजाणंता॥ 161॥

अर्थ:- जो लोग परमार्थ से बाह्य हैं, परमार्थभूत आत्मा का जो अनुभव नहीं करते हैं वे लोग अपने अज्ञान भाव के द्वारा पुण्य को ही अच्छा मान कर उसे करते रहते हैं जो कि संसार को बनाये रखने का हेतु है, क्योंकि वे लोग मोक्ष का कारण ज्ञान स्वरूप जो आत्मा उसका अनुभव नहीं कर पाते हैं॥161॥

रागद्वेष ही आस्रव है

भावो रागादिजुदो, जीवेण कदो दु बंधगो होदि।
रागादिविप्पमुक्को, अबंधगो जाणगो णवरि॥174॥

अर्थ:- जीव के द्वारा किया हुआ रागादियुक्त-अज्ञानभाव ही नवीन-कर्म के बन्ध होने में कारण होता है। किन्तु रागादि से रहित आत्मा का भाव नूतन-बन्ध का कारण नहीं होता। वह तो केवल जानने वाला ही होता है॥ 174॥

भेद विज्ञान ही संवर का उपाय है

एदं तु अविवरीदं, णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि, भावं उवओगसुद्धप्पा॥190॥

अर्थ:- इस प्रकार का अविपरीत/ अव्याहत ज्ञान जब इस जीव को हो जाता है उस समय अपने उपयोग में शुद्ध होता हुआ यह छद्मस्थ आत्मा भी कुछ विकारभाव नहीं करके अपने स्वभाव में ही स्थित रहता है॥ 190॥

भेदविज्ञान हेतु दृष्टान्त

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो, ण जहदि णाणी दु णाणित्तं॥191॥

अर्थ:- जैसे अग्नि से तपाया हुआ सोना भी अपने स्वर्णपने को नहीं छोड़ता है वैसे ही कर्मोदय के द्वारा सताया हुआ ज्ञानी जीव भी अपने ज्ञानीपने का त्याग नहीं करता है ॥ 191 ॥

भेद विज्ञान से शुद्धात्मा की प्राप्ति

एवं जाणदि णाणी, अण्णाणी मुणदि रागमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो, आदसहावं अयाणंतो ॥192 ॥

अर्थ:- इस प्रकार ज्ञानी तो अपने आप को जानता ही रहता है किन्तु अज्ञानी अन्धकार में ढँका हुआ होने के कारण अपने आपको नहीं जानता हुआ राग को ही अपना स्वरूप समझता है ॥192 ॥

संवर की विधि

अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमइओ अणण्णमणो।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मणिमुक्कं ॥196 ॥

अर्थ:- वही एक अपने शुद्धात्मा का ध्यान कर पाता है। हाँ, जो इस प्रकार सब ओर से अपने मन को हटाकर मात्र अपने दर्शन-ज्ञानमय-स्वभाव में रहता है वह जीव शीघ्र ही अपने आपको सम्पूर्ण कर्मों से रहित कर लेता है ॥ 196 ॥

आस्रव के कारण

तेसिं हेदू भणिदा, अज्झवसाणाणि सव्व-दरसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं, अविरदिभावो य जोगो यं ॥199 ॥

अर्थ:- सर्वज्ञदेव ने पूर्वोक्त रागद्वेष और मोहरूप आस्रवों के हेतु मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ये चार अध्यवसाय कहे हैं ॥199 ॥

संवर का क्रम

हेदु अभावे णियमा, जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा, जायदि कम्मस्स दु णिरोहो ॥200 ॥

अर्थ:- ज्ञानी जीव के इन हेतुओं का अभाव होने से नियम से आस्रव का निरोध हो जाता है और आस्रव स्वभाव के न होने से कर्मों का भी निरोध हो जाता है॥ 200॥

भाव निर्जरा का स्वरूप

दव्वे उवभुज्जंते, णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं,वेददि अथ णिज्जरं जादि॥203॥

अर्थ:- बाह्य शुभ और अशुभरूप पदार्थ का समागम होने पर सुख और दु:खरूप जो साता-असातानामक वेदनीयकर्म है, उसकी उदीरणा होती है ऐसा नियम है और उस उदीरित हुए सुख तथा दु:ख को सम्यग्दृष्टि जीव भी भोगता है किन्तु वह मुक्त होकर निर्जीर्ण हो जाता है फिर भी उसके राग नहीं होने के कारण बन्ध का कारण नहीं बनता॥ 203॥

ज्ञानी को कर्म-बन्ध नहीं होता

जह विसमुवभुज्जंतो, वेज्जापुरिसा ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं, तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी॥204॥

अर्थ:- जैसे वैद्य विष खाकर भी मरण को प्राप्त नहीं होता वैसे ही ज्ञानी जीव कर्मफल को भोगता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता॥ 204॥

वैराग्य का सामर्थ्य

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो, णाणीवि ण बज्झदि तहेव॥205॥

अर्थ:- जैसे कोई पुरूष अरतिभाव से अप्रीतिपूर्वक किसी भी मादक पदार्थ को पीता हुआ भी मतवाला नहीं होता, वैसे ही किसी भी पदार्थ के उपभोग में रागादि रहित हुआ ज्ञानी-जीव भी कर्मबंध को प्राप्त नहीं होता है॥ 205॥

ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर

सेवंतोवि ण सेवदि, असेवमाणोवि सेवगो कोवि ।
पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि ॥206 ॥

अर्थ:-कोई (ज्ञानी) भोगों को सेवता हुआ भी सेवन नहीं करता है। दूसरा कोई (अज्ञानी) नहीं सेवन करता हुआ भी सेवन करने वाला होता है जैसे कि किसी विवाह मे जिसका विवाह होता है वह उस विवाह का कुछ भी काम नहीं करता किन्तु उस विवाह में आये हुये पाहुने आदिक-जिनका विवाहनहीं होना है, उस विवाह का सब काम करते हैं ॥ 206 ॥

राग पुद्गल कर्म है

पुग्गलकम्मं रागो, तस्स विवागोदयो हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को ॥207 ॥

अर्थ:- सम्यग्दृष्टि विरागी जीव ऐसा जानता है कि राग नाम का पौद्गलिककर्म है उसके विपाक का उदय ही मेरे अनुभव से प्रतीतिरूप से आया करता है सो यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो निश्चय से एकज्ञायक स्वभाव हूँ इसमें सन्देह नहीं ॥ 207 ॥

सम्यग्दृष्टि ज्ञान=वैराग्य सम्पन्न होता है

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणग सहावं।
उदयं कम्मविवागं, य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥209 ॥

अर्थ:- इस प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ जो जीव अपने आपको ज्ञायक स्वभाव मानता है और कर्म के उदय को कर्म का विपाक जानकर उसे छोड़ता है वही सम्यग्दृष्टि होता है ॥ 209 ॥

सम्यग्दृष्टि स्व-पर को जानता है

उदयविवागो विविहो, कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा, जाणगभावो दु अहमिक्को।।210।।

अर्थ:- योगी जानते हैं कि श्री जिन भगवान् ने कर्मों के रस का उदय अनेक प्रकार का बतलाया है वह सब मेरा स्वभाव नहीं है। मैं एक ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ॥ 210॥

ज्ञायक ही ज्ञानी

जो वेददि वेदिज्जदि, समए-समए विणस्सदे उभयं।
तं जाणगो दु णाणी, उभयमवि ण कंखदि कदावि।।213।।

अर्थ:- जो वेदन करता है और जिसका वेदन किया जाता है वे दोनों भाव समय-समय में नष्ट होते रहते हैं। अर्थात् वेद-वेदक भाव क्रमसे होते हैं अत: एक समय से अधिक देर तक अवस्थित नहीं रहते। ज्ञानी जीव उन दोनों भावों को जानने वाला ही है, वह उनको कभी भी अंगीकार नहीं करता है॥ 213॥

ज्ञानी को त्रिकाल के भोगों की आकांक्षा नहीं

उप्पण्णोदयभोगे, वियोगबुद्धिय तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य, उदयस्स ण कुव्वदे णाणी।।228।।

अर्थ:- ज्ञानी जीव के वर्तमानकालीन उदय का भोग निरंतर वियोगबुद्धि से उपलक्षित रहता है अर्थात् वर्तमान भोग को नश्वर समझकर वह उसमें परिग्रहबुद्धि नहीं करता और अनागत-भविष्यकालीन भोग की वह आकांक्षा नहीं करता॥228॥

ज्ञानी जीव की परिणति

णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णोलिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं।।229।।

अर्थ:- ज्ञानी जीव सब ही द्रव्यों के प्रति होने वाले राग को छोड़ देता है अत: वह ज्ञानावरणादि कर्म सहित होकर भी नवीन कर्मरज से लिप्त नहीं होता जैसे कि कीचड़ में पड़ा हुआ सोना जंग नहीं खाता है॥ 229॥

अज्ञानी जीव की परिणति

अण्णाणी पुण रत्तो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु, कद्दममज्झे जहा लोहं॥230॥

अर्थ:- अज्ञानी जीव सभी द्रव्यों में राग रखता है इसलिए कर्मों के फन्दे में फँसकर नित्य नये कर्म बंध किया करता है। जैसे कि लोहा कीचड़ में पड़ने पर जंग खा जाया करता है॥230॥

सम्यग्दृष्टि सप्तभय से मुक्त होता है

सम्मादिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥243॥

अर्थ:- सम्यग्दृष्टि जीव नि:शंक कहे गये हैं इसलिये निर्भय होते हैं। वे मरणादिरूप सात प्रकार के भय से रहित होते हैं यही उनके नि:शंक होने का अर्थ है॥ 243॥

नि:शंक सम्यग्दृष्टि का स्वरूप

जो चत्तारिवि पाए, छिंददि ते कम्म मोहबाधकरे।
सो णिस्संको चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥244॥

अर्थ:- जो कोई कर्मबन्ध का करने वाला मोह भाव तथा बाधा को उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और शुभाशुभरूप योग इन चार पायों को उखाड़ डालता है वह आत्मा ही नि:शंक सम्यग्दृष्टि होता है॥ 244॥

निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि

जो ण करेदि दु कंखं, कम्मफलेसु तहय सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ 245॥

अर्थः- जो आत्मा कर्मों के फलों में व सभी प्रकार के धर्मों में इच्छा नहीं करता है उस आत्मा को निःकांक्षित इच्छा रहित सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये॥ 245॥

निर्विचिकित्सा अंग का लक्षण

जो ण करेदि दुगुंच्छं, चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिंछो, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥246॥

अर्थः- जो जीव सभी वस्तुओं के धर्मों में ग्लानि नहीं करता है वह अवश्य ही विचिकित्सा दोष रहित सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है॥ 246॥

अमूढ़दृष्टि का कथन

जो हवदि असम्मूढो, चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥247॥

अर्थः- जो चेतन सर्वकर्मों के उदय रूप भावों में मूढ़ता, मोह, ममता धारण नहीं करता वह वास्तव में अमूढ़दृष्टि अंग का धारी सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है॥ 247॥

उपगूहन का स्वरूप

जो सिद्धभति जुत्तो-, उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहण-गारी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ 248॥

अर्थः- जिसने सिद्ध भगवान् की भक्ति में ही अपना उपयोग लगा रखा है अतएव सर्व विभाव धर्मों का ढकने वाला है वह उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि मानना योग्य है॥ 248॥

स्थितिकरण अंग

उम्मग्गं गच्छंतं, सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं।
सो ठिदिकरणेण जुदो, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥249॥

अर्थ:- जो जीव उन्मार्ग में जाते हुए अपने आप को बचाकर मार्ग में स्थापना करता है वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरण गुण सहित है, ऐसा समझना योग्य है॥ 249॥

वात्सल्य अंग की परिभाषा

जो कुणदि वच्छलत्तं, तिण्हे साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ 250॥

अर्थ:- जो मोक्षमार्ग पर चलने वाले तीनों साधुओं के प्रति वात्सल्यभाव रखता है वह सम्यग्दृष्टि जीव वात्सल्य गुण का धारी माना जाना चाहिए॥ 250॥

आत्मज्ञान विहारी जिनज्ञान प्रभावी है

विज्जारहमारूढो, मणोरहरएसु हणदि जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ 251॥

अर्थ:- जो जीव आत्मानुभूति रूप विद्यारूपी रथ में आरूढ़ होकर मनरूपी रथ के वेगों को नष्ट करता है वह सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र के ज्ञान की प्रभावना करने वाला मानना चाहिए॥251॥

ज्ञानी और अज्ञानी की पहचान

जो मण्णदि हिंसामि य, हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढ़ो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो॥262॥

अर्थ:- जो ऐसा मानता है कि मैं किसी पर जीव को मार रहा हूँ या मार सकता हूँ और मैं जीवों के द्वारा मारा जा रहा हूँ या मारा जा सकता हूँ अर्थात्

कोई भी मुझे मार रहे हैं या मार सकते हैं ऐसा समझने वाला जीव अज्ञानी है। ज्ञानी का विचार इससे उल्टा होता है ॥ 262 ॥

आयुकर्म के क्षय से ही मरण होता है

आउक्खयेण मरणं, जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं, कह ते मरणं कदं तेसिं ॥263 ॥

अर्थ:- जीवों का मरण उनकी आयु के क्षय से होता है ऐसा ही जिनेश्वर देव ने कहा है। जब उनकी आयु का तू अपहरण नहीं कर सकता, (और तेरी आयु का अपहरण वे नहीं कर सकते हैं) तो कैसे तुम्हारे द्वारा उनका मरण किया गया ॥ 263 ॥

जीवित रहने का अध्यवसाय भी अज्ञान

जो मण्णदि जीवेमि य, जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ (अ.वृ.)

अर्थ:- जो ऐसा मानता है कि मैं पर जीवों को जीवित रखता हूँ और पर जीवों के द्वारा मैं जीवित रहता हूँ वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे जो विपरीत मानता है वह ज्ञानी है ॥ 263-2 ॥

आयु कर्म के उदय से ही जीवन

आऊदयेण जीवदि, जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं, कहं त ए जीविदं कदं तेसिं ॥264 ॥

अर्थ:- जीव आयु के उदय से जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। तुम किसी को आयु नहीं देते फिर तुमने उसको जीवित कैसे किया? आयु के उदय से जीव जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं? तुम्हें कोई आयु नहीं देता फिर उनके द्वारा तुमको जीवित कैसे किया गया? ॥ 264 ॥

अज्ञानी एवं ज्ञानी में अंतर

जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिदसुहिदं करेमि सत्तेति।
सो मूढ़ो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥265॥

अर्थ:- जो ऐसा मानता है कि मैं अपने द्वारा दूसरे जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे जो विपरीत मानता है वह ज्ञानी है॥ 265॥

कर्मोदय से जीव सुखी-दुःखी

कम्मोदएण जीवा दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं, दुक्खिदसुहिदा कहं कदा ते॥266॥

कम्मोदएण जीवा दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं, कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं॥267॥

कम्मोदएण जीवा दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं, कह तं सुहिदो कदो तेहिं॥268॥

अर्थ:- सब जीव कर्म के उदय से यदि दुःखी-सुखी होते हैं तो तू उन्हें कर्म नहीं देता है, फिर तेरे द्वारा वे कैसे दुःखी-सुखी किये गये? यदि कर्म के उदय से सब जीव दुःखी-सुखी होते हैं तो अन्य जीव तुझे कर्म तो देते नहीं, फिर उनके द्वारा तू दुःखी कैसे किया गया? यदि समस्त जीव कर्मके उदय से दुःखी-सुखी होते हैं तो अन्य जीव तुझे कर्म तो देते नहीं, फिर तू उनके द्वारा सुखी कैसे किया गया॥ 266-268॥

मरण एवं दुःख कर्मोदय से

जो मरदि जोय दुहिदो, जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदोदे, दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा॥269॥

जो ण मरदि ण य दुहिदो, सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु जीवो।
तम्हा ण मारिदोदे, दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा॥270॥

अर्थ:- जो मरता है और जो दु:खी होता है वह सब अपने कर्मोदय से ही होता है इसलिए अमुक व्यक्ति मेरे द्वारा मारा गया तथा अमुक व्यक्ति दु:खी किया गया यह अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? मिथ्या ही है। जो नहीं मरता है और नहीं दु:खी होता है वह सब यथार्थ में अपने कर्मोदय से होता है इसलिए मैंने मरने नहीं दिया या मैंने दु:खी भी नहीं होने दिया - यह अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? मिथ्या ही है ॥269-270॥

अभव्य का शास्त्र-पाठ गुणकारी नहीं

मोक्खं असद्दहंतो, अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करदि गुणं, असद्दहं तस्स णाणं तु॥ 292॥

अर्थ:- मोक्ष तत्त्वकी श्रद्धा न करने वाला अभव्य जो अध्ययन करता है उसका वह अध्ययन कुछ भी गुण-लाभ नहीं करता है, क्योंकि उसे शुद्धात्म ज्ञान की श्रद्धा ही नहीं है ॥292॥

अभव्य की श्रद्धा निरर्थक

सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणोवि फासेदि य।
धम्मं भोगणिमित्तं, ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं॥293॥

अर्थ:- वह अभव्य जीव धर्मका श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, रूचि करता है और अनुष्ठान रूप से स्पर्श करता है, परंतु भोग में निमित्तभूत धर्म का श्रद्धान करता है कर्म क्षय में निमित्तभूत धर्मका श्रद्धानादि नहीं करता।

बंध की मात्र चिंता करने पर मोक्ष नहीं

जह बंधे चिंतंतो, बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो,जीवोवि ण पावदि विमोक्खं॥311॥

अर्थ:- जैसे बंधन से बँधा हुआ पुरूष बंधन की मात्र चिंता करता हुआ उससे छुटकारा नहीं पाता, उसी प्रकार कर्म बंध की मात्र चिंता करता हुआ जीव भी मोक्ष को नहीं पाता है ॥311॥

कर्मक्षय मोक्षका कारण

जह बंधे छित्तूणय बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूण य,जीवो संपावदि विमोक्खं॥312॥

अर्थ:- जिस प्रकार बंधन से बँधा पुरूष बंधनों को छेदकर मोक्ष को पाता है उसी प्रकार जीव कर्म बंधनों को छेदकर मोक्ष को पाता है॥ 312॥

मैं चिदात्मा हूँ

पण्णाए घित्तव्वो, जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णादव्वा॥ 319॥

अर्थ:- जो चेतनस्वरूप आत्मा है वह निश्चय से मैं हूँ इस प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना चाहिए और बाकी जो भाव है वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिए॥ 319॥

मैं ज्ञाता-दृष्टा मात्र हूँ

पण्णाए घित्तव्वो, जो दट्ठा अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णादव्वा॥ 320॥

पण्णाए घित्तव्वो, जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णादव्वा॥ 321॥

अर्थ:- प्रज्ञा के द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो दृष्टा है- देखने वाला है वह निश्चय से मैं हूँ और अवशिष्ट जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिए। प्रज्ञा के द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो ज्ञाता है वह तो निश्चय से मैं हूँ, बाकी जो भी भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिए॥ 320-321॥

अभव्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता

ण मुयदि पयडिमभव्वो, सुट्ठुवि अज्झाइदूण सत्थाणि।
गुड्दुद्धंपि पिबंता, ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥340॥

अर्थ:- अभव्य अच्छी तरह शास्त्रों को पढ़कर भी प्रकृति को नहीं छोड़ता है, क्योंकि साँप गुड़ और दूध पीकर भी निर्विष नहीं होते॥ 340॥

ज्ञानी कर्म फल को नहीं भोगता

णिव्वेदसमावण्णो, णाणी कम्मप्फलं वियाणादि।
महुरं कडुयं बहुविहमवेदगो तेण सो होदि॥ 341॥

अर्थ:- वैराग्य को प्राप्त हुआ ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के मधुर (शुभ) और कटुक (अशुभ) कर्मों के फल को जानता है फिर भी वह अवेदक-अभोक्ता होता है॥ 341॥

पर्याय द्रव्य-गुण से अपृथक

पज्जयविजुदं दव्वं दव्व विजुत्ता य पज्जयाणत्थि।
दोण्हं अणण्ण भूदं भावं समणा परूविंति॥(पं.का. 12)

अर्थ - पर्याय से रहित कोई द्रव्य नहीं तथा द्रव्य से रहित कोई पर्याय नहीं है, दोनों अनन्यभूत हैं, ऐसा भाव श्रमण अर्थात् जिनेन्द्र देव कहते हैं।

शरीर मेरा नहीं

छिज्जदु वा भिज्जदु वा, विज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु, लहवि हु ण परिग्गहो मज्झं ॥ 218॥(स.सा.)

अर्थ - ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि इस शरीरादि को कोई छेद दे, भेद दे या इसे ले जावे अथवा विनष्ट कर दे अथवा जिस किसी दशा को भी प्राप्त हो जावे तो भी यह मेरा परिग्रह नहीं है यह निश्चित है।

रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं।

परमाणुमित्तियं पि हु य, रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागम धरोवि ॥ 211 ॥ (स.सा.)

अप्पाणमयाणंतो, अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी, जीवा जीवे अयाणंतो ॥ 212 ॥ (युग्म्)

अर्थ - जिसके रागादिक लेश मात्र भी विद्यमान है, तो वह सम्पूर्ण आगम का ज्ञाता (पारंगत) होने पर भी आत्मा को नहीं जान सकता और जो आत्मा को नहीं जानता है वह अजीव को भी नहीं जान सकता। इस प्रकार जो जीव एवं अजीव दोनों को नहीं जानता है, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

हथकरघा से 5 लाभ

निशान्त दत्तात्रय खादी ग्रामोद्योग

1. **Eco Friendly** - **स्वस्थ पर्यावरण**
2. **Family Friendly** - **स्वस्थ परिवार**
3. **Fassion Friendly** - **स्वस्थ पसंद**
4. **Revenue Friendly** - **स्वस्थ पैसा**
5. **User Friendly** - **स्वस्थ प्रयोगकर्ता**

पंचास्तिकाय

जो है, सो है

भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा, उप्पादवए पकुव्वंति॥15॥

अर्थ:- सत् पदार्थ का नाश नहीं होता ओर न असत् पदार्थ का उत्पाद ही। पदार्थ, गुण और पर्यायों में ही उत्पाद तथा व्यय करते हैं॥ 15॥

जीव का स्वरूप

जीवोत्ति हवदि चेदा, उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो, ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥ 27॥

अर्थ:- जो जीता है वह जीव है चेतनामय, उपयोगमय, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहमात्र, मूर्त और कर्म संयुक्त है। यह संसारी जीव का स्वरूप है।

संसार परिभ्रमण का कारण

एवं कत्ता भोत्ता, होज्झं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडति पारमपारं, संसारं मोहसंछण्णो॥ 69॥

अर्थ:- यह जीव अपने ही शुभाशुभ कर्मों से मोह के द्वारा आच्छन्न हो कर्ता भोक्ता होता हुआ सांत और अनंत संसार में परिभ्रमण करता रहता है॥ 69॥

मोक्ष प्राप्ति का उपाय

उवसंतखीणमोहो, मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी, णिव्वाणपुरं वजदि धीरो॥ 70॥

अर्थः- जब यह जीव जिनेन्द्र प्रणीत आगम के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्ररूप मार्ग को प्राप्त हो स्वसंवेदनज्ञानरूप मार्ग में विचरण करता है और विविध उपसर्ग तथा परिषह सहन करने में धीर वीर हो मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय करता है तब मोक्षनगर को प्राप्त करता है॥ 70॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप

सम्मत्तं सद्दहणं, भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो, विसयेसु विरूढमग्गाणं॥107॥

अर्थः- पूर्वोक्त जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन्हीं का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और पंचेन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट विषयों में समताभाव धारण करना सम्यक्चारित्र है। यह मोक्षमार्ग में दृढ़ता के साथ प्रवृत्ति करने वालों के ही होता है॥ 107॥

इंद्रियादिक जीव नहीं हैं

ण हि इंदियाणि जीवा, काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवंति॥ 121॥

अर्थः- न स्पर्शनादि इंद्रियाँ जीव हैं, न उल्लेखित पृथ्वीकायादि छह प्रकार के काय जीव हैं, किंतु उनमें जो ज्ञान है - चैतन्य है वही जीव है ऐसा महापुरूष कहते हैं॥121॥

जीव की विशेषता

जाणदि पस्सदि सव्वं, इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा, भुंजदि जीवो फलं तेसिं॥122॥

अर्थः- जीव सबको जानता है, सबको देखता है, सुख को चाहता है, दुःखसे डरता है, शुभ कार्य करता है, अशुभ कार्य करता है और उनके फल भी भोगता है॥ 122॥

जीव के संसार भ्रमण का कारण

जो खलु संसारत्थो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होंदि गदिसु गदी॥128॥

गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं, तत्तो रागो व दोसो वा॥129॥

जायदि जीवस्सेवं, भावो संसारचक्क वालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा॥130॥

अर्थ:-जो यह संसारी जीव है उसके राग-द्वेष आदि अशुद्ध भाव होते हैं, उनसे ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का बंध होता है, कर्मों से एक गतिसे दूसरी गति प्राप्त होती है, गतिको प्राप्त हुए जीवके औदारिकादि शरीर होता है, शरीरसे इंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं, इंद्रियोंसे विषयग्रहण होता है और उससे राग तथा द्वेष उत्पन्न होते हैं। संसाररूपी चक्रमें भ्रमण करनेवाले जीवके ऐसे अशुद्ध भाव अभव्यकी अपेक्षा अनादि अनंत और भव्य अपेक्षा अनादि-सांत होते हैं, ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है॥ 128-130॥

जीव के शुभ-अशुभ भावों का वर्णन

मोहो रागो दोसो, चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा, असुहो वा होदि परिणामो॥131॥

अर्थ:- जिस जीव के हृदय में मोह, राग, द्वेष और चित्त की प्रसन्नता रहती है उसके शुभ अथवा अशुभ परिणाम अवश्य होते हैं अर्थात् जिसके हृदय में प्रशस्त राग और चित्त की प्रसन्नता होगी उसके शुभ परिणाम होंगे और जिसके हृदय में मोह, द्वेष, अप्रशस्त राग तथा चित्त का अनुत्साह होगा उसके अशुभ परिणाम होंगे॥ 131॥

पुण्य और पाप का लक्षण

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावंति हवदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो, भावो कम्मत्तणं पत्तो ॥132॥

अर्थः- जीव का शुभ परिणाम पुण्य कहलाता है और अशुभ परिणाम पाप। इन दोनों ही परिणामों से कार्मणवर्गणा रूप पुद्गल द्रव्य कर्म अवस्था को प्राप्त होता है ॥132॥

कर्म मूर्तिक हैं

जम्हा कम्मस्स फलं, विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥133॥

अर्थः- चूँकि कर्मों के फलभूत सुख-दुःखादि के कारण रूप विषयों का उपभोग स्पर्शनादि मूर्त इंद्रियों के द्वारा होता है अतः कर्म मूर्त हैं ॥133॥

पुण्यकर्म का आस्रव किसके होता है?

रागो जस्स पसत्थो, अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं,पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥135॥

अर्थः- जिस जीव का राग प्रशस्त है, परिणाम दया से युक्त है और हृदय कलुषता से रहित है उसके पुण्यकर्म का आस्रव होता है ॥135॥

प्रशस्त राग का लक्षण

अरहंसिद्धसाहुसु, भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं, पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥136॥

अर्थः- अरहंत सिद्ध साधुओं में भक्ति होना, शुभरागरूप धर्म मे प्रवृत्ति होना तथा गुरूओं के अनुकूल चलना यह सब प्रशस्त राग है, ऐसा पूर्व महर्षि कहते हैं ॥136॥

अनुकंपा का लक्षण

तिसिदं बुभुक्खिदं वा, दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया, तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥137॥

अर्थ:- जो भूखे-प्यासे अथवा अन्य प्रकार से दुःखी प्राणियों को देखकर स्वयं दुःखित होता हुआ दयापूर्वक उसे अपनाता है- उसका दुःख दूर करने का प्रयत्न करता है उसके अनुकंपा होती है ॥137॥

परिणामों में कालापन

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं, कलुसो त्ति य तं बुधा वेंति ॥138॥

अर्थ:- क्रोध, मान, माया और लोभ चित्त को प्राप्त कर आत्मा में जो क्षोभ उत्पन्न करते हैं, पंडित जन उसे कालुष्य कहते हैं ॥138॥

पापास्रव के कारण

चरिया पमादबहुला, कालुस्सं लोलदा य विसयेसु।
परपरितावपवादो, पावस्स य आसवं कुणदि ॥139॥

अर्थ:- प्रमाद से भरी प्रवृत्ति, कलुषता, विषयों की लोलुपता, दूसरों को संताप देना और उसका अपवाद करना यह सब पापास्रव के कारण हैं ॥139॥

और भी

सण्णाओ य तिलेस्सा, इंदियवसदा य अट्टरूद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥140॥

अर्थ:- आहार आदि चार संज्ञाएँ, कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ, पंचेन्द्रियों की पराधीनता, आर्त-रौद्र ध्यान असत्कार्य में प्रयुक्त ज्ञान और मोह ये सब पापास्रव कराने वाले हैं ॥140॥

पापास्रव को रोकने वाले कारण

इंदियकसायसण्णा, णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठुमग्गम्मि।
जावत्तावत्तेहिं , पिहियं पावासवच्छिद्दं ॥141॥

अर्थ:- जो इंद्रिय, कषाय और संज्ञाओं को जितने अंशों में अथवा जितने समय तक समीचीन मार्ग मे नियंत्रित कर लेते हैं उनके उतने ही अंशों में अथवा उतने ही समय तक पापास्रव का छिद्र बंद रहता है, पापास्रव का संवर रहता है ॥141॥

शुद्धोपयोगी जीवों का वर्णन

जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो, झाणमओ जायए अगणी ॥146॥

अर्थ:- जिसके न राग है, न द्वेष है न मोह है और न ही योगों का परिणमन है उसके शुभ अशुभ कर्मों को जलाने वाली ध्यानरूपी अग्नि उत्पन्न होती है।

कर्मबंध का कारण

जं सुहमसुहमुदिण्णं, भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बंधो, पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥147॥

अर्थ:- यह आत्मा पूर्व कर्मोदय से होने वाले शुभ-अशुभ परिणामों को करता है तब अनेक पौद्गलिक कर्मों के साथ बंध को प्राप्त होता है ॥147॥

ध्यान निर्जरा का कारण है

दंसणणाणसमग्गं, झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू, सभावसहिदस्स साधुस्स ॥152॥

अर्थ:- ज्ञान और दर्शन से संपन्न तथा अन्य द्रव्यों के संयोग से रहित ध्यान स्वभाव सहित साधु के निर्जरा का कारण होता है ॥152॥

मोक्ष का कारण

जो संवरेण जुत्तो, णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि
ववगदवेदाउस्सो, मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ॥153॥

अर्थ:- जो जीव संवर से युक्त होता हुआ समस्त कर्मों की निर्जरा करता है और वेदनीय तथा आयु कर्म को नष्ट कर नाम गोत्र रूप संसार अथवा वर्तमान पर्याय का भी परित्याग करता है उसके मोक्ष होता है ॥153॥

अभेद रत्नत्रय का वर्णन

जो चरदि णादि पेच्छदि, अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं, दंसणमिदि णिच्चिदो होदि ॥162॥

अर्थ:- अब तक के कथन से यह निश्चित होता है कि जो जीव पर पदार्थ से भिन्न आत्मस्वरूप में चरण करता है, उसे ही जानता है और देखता है, वही सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है ॥162॥

सम्यग्दर्शनादि ही मोक्ष मार्ग है

दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गोत्ति सेविदव्वाणि।
साधूहि इदं भणिदं, तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥164॥

अर्थ:- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है, इसलिए सेवन करने योग्य है, धारण करने योग्य है ऐसा साधुपुरूषों ने कहा है और यह भी कहा है कि उक्त तीनों यदि पराश्रित होंगे तो उनसे बंध होगा और स्वाश्रित होंगे तो मोक्ष होगा ॥164॥

पुण्य मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है

अरहंतसिद्धचेदिय, पवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो, ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि ॥166॥

अर्थ:- अरहंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, मुनिसमूह और भेदविज्ञान आदि की

भक्ति से युक्त हुआ जीव बहुतबार पुण्य बंध करता है, परंतु कर्मों का क्षय नहीं करता ॥166॥

अणुमात्र भी राग स्वसमय का बाधक है

जस्स हिदयेणुमत्तं, वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं, सगस्स सव्वागमधरो वि॥167॥

अर्थः- जिसके हृदय में परद्रव्य संबंधी थोड़ा भी राग विद्यमान है वह समस्त शास्त्रों का पारगामी होने पर भी स्वकीय समय को नहीं जानता है ॥167॥

शुभ राग मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं

अरहंतसिद्धचेदिय, पवयणभत्तो परेण णियमेण।
जो कुणदि तवो कम्मं, सो सुरलोगं समादियदि॥171॥

अर्थः- जो अरहंत, सिद्ध, जिनप्रतिमा और जिनशास्त्रों का भक्त होता हुआ उत्कृष्ट संयम के साथ तपश्चरण करता है वह नियम से देवगति ही प्राप्त करता है ॥171॥

पंच सूना बचायेंगे 5 पाप से

1. ओखली-मूसली
2. हाथचक्की
3. चूल्हा
4. बुहारी
5. डोर-बाल्टी

प्रवचनसार

ज्ञान तत्त्वाधिकार -
आगम मुनि की आँख

आगमचक्खू साहू इंदिय चक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥34॥

अर्थ:- मुनि आगमचक्षु हैं, संसार के समस्त प्राणी इंद्रियचक्षु हैं, देव अवधिचक्षु हैं और सिद्ध सर्वचक्षु हैं, अर्थात् मुनि आगम से सब कुछ जानते हैं, संसार के साधारण प्राणी इंद्रियों से जानते हैं, देव अवधिज्ञान से जानते हैं, और सिद्ध भगवान् केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानते हैं।

समता की मूर्ति श्रमण

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पससंणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥41॥

अर्थ:- जिसकी शत्रु और बंधुवर्ग में समान बुद्धि है, जो सुख-दुःख, प्रशंसा तथा निंदा में समान है, पत्थर के ढेले और सुवर्ण में समभाव है तथा जीवन और मरण में समान है वह श्रमण कहलाता है।

मोह बंध का कारण

उदयगदा कम्मंसा, जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो, दट्ठो वा बंधमणुभवदि॥ 43॥

अर्थ:- जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि संसारी जीव के नियमपूर्वक कर्मों के अंश प्रतिसमय उदय में आते रहते हैं। जो जीव उन उदयागत कर्मांशों में मोही रागी अथवा द्वेषी होता है वह बंध का अनुभव करता है॥43॥

इंद्रियजन्य सुख अपारमार्थिक

मणुआसुरामरिंदा, अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं, रमंति विसयेसु रम्मेसु॥ 63॥

अर्थ:- सहजोत्पन्न इंद्रियों से पीड़ित मनुष्य, धरणेंद्र और देवों के इंद्र-स्वामी उस इंद्रियजन्य दुःख को न सहते हुए रमणीक विषयों में क्रीड़ा करते हैं॥63॥

जितनी इंद्रियां हैं वे स्वभाव से ही दुःखरूप हैं

जेसिं विषयेसु रदी, तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जदि तं ण हि सब्भावं, वावारो णत्थि विसयत्थं॥64॥

अर्थ:- जिन जीवों को विषयों में प्रीति है उनके दुःख स्वभाव से ही जानो, क्योंकि यदि वह दुःख उनके स्वभाव से उत्पन्न नहीं होता तो विषयों के लिए व्यापार नहीं होता॥64॥

शरीर सुख का साधन नहीं

पप्पा इट्ठे विसये, फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा, सयमेव सुहं ण हवदि देहो॥65॥

अर्थ:- स्पर्शनादि इंद्रियों द्वारा इष्ट विषयों को पाकर अशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप स्वभाव से परिणमन करने वाला आत्मा ही स्वयं सुखरूप होता है, शरीर नहीं। सुख चेतन का गुण है इसलिए वह उसी में व्यक्त होता है- शरीर जड़ पदार्थ है इसलिए उसमें नहीं पाया जाता है।

आत्मा से ही सुख-दुःख

एगंतेण हि देहो, सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं,दुक्खं वा हवदि सयमादा॥66॥

अर्थ:- यह निश्चय है कि शरीर आत्मा को स्वर्ग में सुखरूप नहीं करता किंतु यह आत्मा ही विषयों के वश में स्वयं सुख अथवा दु:खरूप हो जाता है ॥66 ॥

पंचेन्द्रियों के विषय सुख के कारण नहीं

तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं।
तह सोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥67 ॥

अर्थ:- यदि किसी मनुष्य की दृष्टि अंधकार को नष्ट करने वाली है तो जिस प्रकार उसे दीपक से कुछ कार्य नहीं होता उसी प्रकार आत्मा यदि स्वयं सुखरूप होती है तो उसमें पंचेन्द्रियों के विषय क्या करते हैं? अर्थात् कुछ नहीं ॥ 67 ॥

ज्ञान और सुख आत्मा का स्वभाव

सयमेव जहादिच्चो, तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धो वि तहा णाणं, सुहं च लोगे तहा देवो ॥68 ॥

अर्थ:- जिस प्रकार आकाश में सूर्य स्वयं तेजरूप है, उष्ण है और देवगति नाम कर्म का उदय होने से देव है उसी प्रकार सिद्ध भगवान भी इस जगत् में ज्ञानरूप हैं, सुखरूप हैं और देव रूप हैं ॥ 68 ॥

तृष्णा दु:ख का बीज है

ते पुण उदिण्णतण्हा, दुहिदा तण्हाहिंविसय सोक्खाणि।
इच्छंति अणुभवंति य, आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥ 75 ॥

अर्थ:- फिर, जिन्हें तृष्णा उत्पन्न हुई है ऐसे समस्त संसारी जीव तृष्णाओं से दु:खी और दु:खों से संतप्त होते हुए विषयजन्य सुखों की इच्छा करते हैं और मरणपर्यंत उन्हीं का अनुभव करते रहते हैं ॥ 75 ॥

पुण्य दु:ख का बीज है

सपरं बाधासहियं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदियेहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥ 76॥

अर्थ:- शुभोपयोग से पुण्य होता है और पुण्य से इंद्रियजन्य सुख मिलता है परंतु यथार्थ में विचार करने पर वह इंन्द्रियजन्य सुख-दु:खरूप ही मालूम होता है॥ 76॥

मोह के नाश का उपाय

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं॥80॥

अर्थ:- जो पुरूष द्रव्य, गुण और पर्यायों के द्वारा अरहंत भगवान को जानता है वही आत्मा को जानता है और निश्चय से उसी का मोह विनाश को प्राप्त होता है॥ 80॥

राग-द्वेष रूपी चोरों द्वारा स्वरूप चिंतामणी चुराना

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं॥81॥

अर्थ:- जिसका दर्शनमोह नष्ट हो गया है ऐसा जीव आत्मा के स्वरूप को जानने लगता है- उसका अनुभव करने लगता है और वही जीव यदि राग-द्वेष को छोड़ देता है तो शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है॥ 81॥

बंध के कारण होने से मोह राग और द्वेष नष्ट करने योग्य

मोहेण व रागेण व, दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो, तम्हा ते संखवइ दव्वा॥ 84॥

अर्थ:- मोह राग और द्वेष से परिणत जीव के विविध प्रकार का बंध होता है इसलिए वे सम्यक् प्रकार से क्षय करने के योग्य हैं ॥ 84 ॥

तीन चेतनाओं का स्वरूप
(ज्ञेय तत्वाधिकार)

णाणं अत्थवियप्पो, कम्मं जीवेण सं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं, फलत्ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥32 ॥

अर्थ:- पदार्थ का विकल्प-स्वपर का भेद लिये हुए जीवाजीवादि पदार्थो का तदाकार से जानना ज्ञान है, जीव ने जो प्रारंभ कर रखा है वह कर्म है, वह कर्म शुभाशुभादि के भेद से अनेक प्रकार का है और सुख अथवा दु:ख कर्म का फल है ॥ 32 ॥

जीव एवं प्राण

पाणेहिं चदुहिं जीवदि, जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण, पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥ 55 ॥

अर्थ:- जो चार प्राणों से वर्तमान में जीवित है, आगे जीवित होगा और पहले जीवित था वह जीव है। वे सभी प्राण पुद्गल द्रव्य से रचे गये हैं ॥ 55 ॥

प्राण पौद्गलिक हैं
इस बात को सिद्ध करते हैं

जीवो पाणणिबद्धो, बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं।
उवभुंजं कम्मफलं, बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥ 56 ॥

अर्थ:- मोह आदि पौद्गलिक कर्मों से बँधा हुआ जीव पूर्वोक्त प्राणों से बद्ध होता है और उनके संबंध से ही कर्मों के फलको भोगता हुआ अन्य ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों से बद्ध होता है ॥ 56 ॥

पौद्गलिक प्राणों की संतति को रोकने में अंतरंग कारण क्या ?

जो इंदियादिविजई, भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि, किह तं पाणा अणुचरंति ॥59॥

अर्थः- जो इंद्रिय विषय कषाय आदि को जीतनेवाला होकर शुद्ध उपयोगरूप आत्मा का ध्यान करता है वह कर्मों से अनुरक्त नहीं होता फिर प्राण उसका अनुचरण कैसे कर सकते हैं- उसके साथ कैसे संबंध कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते॥ 59॥

आत्मा उपयोग स्वरूप

अप्पा उवओगप्पा, उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो हि सुहो असुहो वा, उवओगो अप्पणो हवदि ॥63॥

अर्थः- आत्मा उपयोगस्वरूप है, ज्ञान और दर्शन उपयोग कहे गये हैं और आत्मा का वह उपयोग शुभ तथा अशुभ होता है॥ 63॥

कौन उपयोग किस कर्म का कारण

उवओगो जदि हि सुहो, पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं, तेसिमभावे ण चयमत्थि॥ 64॥

अर्थः- यदि जीव का उपयोग शुभ होता है तो पुण्यकर्म संचय-बंधको प्राप्त होता है और अशुभ होता है तो पापकर्मसंचय को प्राप्त होता है। उन शुभ-अशुभ उपयोगों के अभाव में कर्मों का संचय-संग्रह-बंध नहीं होता है॥ 64॥

शुभोपयोग का स्वरूप

जो जाणादि जिणिंदे, पेच्छदि सिद्धी तधेव अणगारे।
जीवे य साणुकंपो, उवओगो सो सुहो तस्स ॥65॥

अर्थ:- जो जीव परमभट्टारक महादेवधिदेव श्री अर्हंत भगवान् को जानता है, श्री सिद्ध परमेष्ठी को ज्ञानदृष्टि से देखता है, उसी प्रकार आचार्य उपाध्याय और साधुरूप निष्परिग्रह गुरूओं को जानता है देखता है तथा जीवमात्र पर दयाभाव से सहित है उस जीव का वह उपयोग शुभोपयोग कहलाता है॥ 65॥

अशुभोपयोग का स्वरूप

विसयकसाओगाढो, दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो, उवओगो जस्स सो असुहो॥ 66॥

अर्थ:- जीव का जो उपयोग विषय और कषाय से व्याप्त है, मिथ्या शास्त्रों का सुनना, आर्त रौद्ररूप खोटे ध्यानों में प्रवृत्त होना तथा दुष्ट - कुशील मनुष्यों के साथ गोष्ठी करना आदि कार्यों से युक्त है, हिंसादि पापों के आचरण में उग्र है और उन्मार्ग - विपरीत मार्ग के चलाने में तत्पर है वह अशुभोपयोग है॥ 66॥

शुभाशुभ भावसे रहित शुद्धोपयोगका वर्णन

असुहोवओगरहिदो, सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्मि।
होज्झं मज्झत्थोऽहं, णाणप्पगमप्पगं झाए॥ 67॥

अर्थ:- जो अशुभोपयोग से रहित है और शुभापयोग में भी उद्यत नहीं हो रहा है, ऐसा मैं आत्मातिरिक्त अन्य द्रव्यों में मध्यस्थ होता हूँ और ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही ध्यान करता हूँ॥ 67॥

शरीरादि परद्रव्य में भी माध्यस्थ्य भाव

णाहं देहो ण मणो, ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा, अणुमत्ता णेव कत्तीणं॥68॥

अर्थ:- न मैं शरीर हूँ, न मन हूँ, न वचन हूँ, न उनका कारण हूं, न उनका करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न करनेवालों को अनुमति देनेवाला हूँ॥ 68॥

आत्मा के परद्रव्य तथा उसके कर्तृत्व का अभाव

णाहं पोग्गल मइओ, ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं, कत्ता वा तस्स देहस्स ॥70॥

अर्थ:- मैं पुद्गलरूप नहीं हूँ और न मेरे द्वारा वे पुद्गल पिंड-शरीररूप किये गये हैं इसलिए निश्चय से मैं शरीर नहीं हूँ और न उस शरीर का कर्ता ही हूँ॥ 70॥

परिणामों की विशेषता का वर्णन

परिणामादो बंधो, परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदोसो, सुहो व असुहो हवदि रागो ॥88॥

अर्थ:- जीव के परिणाम से द्रव्यबंध होता है, वह परिणाम राग द्वेष तथा मोह से सहित होता है, उनमें मोह और द्वेष अशुभ हैं तथा राग शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का है॥ 88॥

पुण्य-पाप और मोक्षका कारण

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावत्ति भणिदमण्णेसु।
परिणामो अणण्णगओ, दुक्खक्खयकारणं समये ॥89॥

अर्थ:-निज शुद्धात्म द्रव्य से अन्य-बहिर्भूत शुभाशुभ पदार्थों में जो शुभ परिणाम है उसे पुण्य और जो अशुभ परिणाम है उसे पाप कहा है तथा अन्य पदार्थोंसे हटकर निजशुद्धात्म द्रव्यमें जो परिणाम है वह आगम में दुःख क्षय का कारण बतलाया गया है। ऐसा परिणाम शुद्ध कहलाता है॥ 89॥

अशुद्ध नय से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति

ण जहदि जो दु ममत्तिं, अहं ममेदत्ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता, पडिवण्णो होदि उम्मग्गं॥ 98॥

अर्थ:- जो पुरूष शरीर तथा धनादिक में 'मैं इन रूप हूँ' और 'ये मेरे हैं' इस प्रकारकी ममत्वबुद्धिको नहीं छोड़ता है वह शुद्धात्मपरिणति रूप मुनिमार्गको छोड़कर अशुद्ध परिणतिरूप उन्मार्गको प्राप्त होता है ॥ 98 ॥

शुद्धनय से शुद्धात्मा का लाभ

णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे, सो अप्पाणं हवदि झादा ॥99॥

अर्थ:- मैं शरीरादि परद्रव्यों का नहीं हूँ और ये शरीरादि परपदार्थ भी मेरे नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञानरूप हूँ इस प्रकार जो ध्यान में अपने शुद्ध आत्मा का चिंतन करता है वही ध्याता है- वास्तविक ध्यान करनेवाला है ॥ 99 ॥

शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य

एवं णाणप्पाणं, दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं, मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥ 100 ॥

अर्थ:- मैं आत्मा को ऐसा मानता हूँ कि वह ज्ञानात्मक है, दर्शनरूप है, अतींद्रिय है, सबसे महान् है, नित्य है, अचल है, परपदार्थोंके आलंबनसे रहित है और शुद्ध है ॥ 100 ॥

आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थ प्राप्त करनेयोग्य नहीं

देहा वा दविणा वा, सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा, धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥101 ॥

अर्थ:-शरीर अथवा धन, अथवा सुख-दुःख, अथवा शत्रु-मित्र जन, ये सभी जीवके अविनाशी नहीं हैं। केवल ज्ञान दर्शनस्वरूप शुद्ध आत्मा ही अविनाशी है ॥ 101 ॥

शुद्धात्मा की उपलब्धि से क्या होता है?

जो एवं जाणित्ता, झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोणागारो, खवेदि सो मोहदुग्गंठिं॥ 102॥

अर्थ:- जो गृहस्थ अथवा मुनि ऐसा जानकर परमात्मा-उत्कृष्ट आत्मास्वरूपका ध्यान करता है वह विशुद्धात्मा होता हुआ मोह की दुष्ट गाँठको क्षीण करता है, खोलता है॥ 102॥

मोह की गाँठ खुलने से क्या होता है ?

जो णिहदमोहगंठी, रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो,सो सोक्खं अक्खयं लहदि॥103॥

अर्थ:- जो पुरूष मोहकी गाँठको खोलता हुआ मुनि अवस्था में राग द्वेषको नष्टकर सुख-दुःख में समान दृष्टिवाला होता है वह अविनाशी मोक्षसुखको पाता है॥ 103॥

सच्चा ध्याता कौन ?

जो खविदमोहकलुसो, विसयविरत्तो मणो णिरूंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे, सो अप्पाणं हवदि झादा॥ 104॥

अर्थ:- जिसने मोहजन्य कलुषताको दूर कर दिया है, जो पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त है और मनको रोककर जो स्व स्वभाव में सम्यक् प्रकार से स्थित है वही पुरूष आत्मा का ध्यान करने वाला है॥ 104॥

साधु सदैव आहार-विहार से रहित
(चारित्राधिकार)

जस्स अणेसणमप्पा, तं पि तओ तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा॥ 227॥

अर्थ:- मुनिकी आत्मा पर द्रव्य का ग्रहण न करने से निराहार स्वभाववाला है, वही उनका अंतरंग तप है। मुनि निरंतर उसी अंतरंग तप की इच्छा करते हैं और एषणाके दोषों रहित जो भिक्षावृत्ति करते हैं उसे सदा अन्य अर्थात् भिन्न समझते हैं, इसलिए वे आहार ग्रहण करते हुए भी निराहार हैं ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार विकाररहित स्वभाव होने के कारण विहार करते हुए भी विहाररहित होते हैं ऐसा जानना चाहिए॥ 27 ॥

तीनों की एकता ही- मोक्षमार्ग

ण हि आगमेण सिज्झदि, सद्दहणं जदि ण णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे, असंजदो वा ण णिव्वादि॥ 37॥

अर्थ:-यदि जीवाजीवादि पदार्थों में श्रद्धान नहीं है तो मात्र आगमके जान लेने से ही जीव सिद्ध नहीं होता है अथवा पदार्थों का श्रद्धान करता हुआ भी यदि असंयत हो तो भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता है॥ 37॥

थोड़ी सी ममता भी दु:खदायी

परमाणुपमाणं वा, मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं, ण लहदि सव्वागमधरोवि॥39॥

अर्थ:- जिसके शरीरादि परपदार्थों में परमाणु प्रमाण भी ममताभाव विद्यमान है वह समस्त आगम का धारक होकर भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है॥ 39॥

मुनि बिना कल्याण कहाँ

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं॥ 1॥

अर्थ - हे भव्यजीवों! यदि आपलोग दु:खोंसे छुटकारा चाहते हैं तो इस प्रकार सिद्धोंको, जिनवरोंमें श्रेष्ठ तीर्थंकर अर्हन्तोंको और आचार्योपाध्याय सर्व साधु रूप मुनियोंको बार-बार प्रणाम कर मुनि पदको प्राप्त करें॥ 1॥

करें त्याग सर्व ममत्व का

भत्ते वा खमणे वा आवसदे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्मि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्मि विकधम्मि ॥15॥

अर्थ - उत्तममुनि, भोजनमें, अथवा उपवासमें, अथवा गुहा आदि निवास स्थानमें, अथवा विहार कार्य में, अथवा शरीररूप परिग्रहमें, अथवा साथ रहने वाले अन्य मुनियोंमें, अथवा विकथामें ममत्वपूर्वक सम्बन्धकी इच्छा नहीं करता है॥ 15॥

अयत्नाचार ही हिंसा

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदीसु॥ 17॥

अर्थ - दूसरा जीव मरे अथवा न मरे परन्तु अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले के हिंसा निश्चित है अर्थात् वह नियम से हिंसा करने वाला है तथा जो पाँचों समितियोंमें प्रयत्नशील रहता है अर्थात् यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है उसके बाह्य हिंसामात्र से बन्ध नहीं होता है॥ 17॥

मोक्षमार्ग के उपकरण

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं॥ 25॥

अर्थ - जिनमार्गमें यथाजातरूप-निर्ग्रन्थमुद्रा, गुरुओंके वचन, उनका विनय ओर शास्त्रोंका अध्ययन ये उपकरण कहे गये हैं॥ 25॥

मूल को बचाना धर्म

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि॥ 30॥

अर्थ - मुनि चाहे बालक है अथवा वृद्ध है अथवा तपस्या या मार्ग के श्रम से खिन्न है, अथवा रोगादिसे पीड़ित है वह अपने योग्य उस प्रकार चर्या का आचरण कर सकता है जिस प्रकार की मूल संयमका घात न हो॥ 30॥

देश-काल के अनुसार चर्या करें-

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो॥ 31॥

अर्थ - मुनि, देश काल श्रम सहनशक्ति और शरीर रूप परिग्रह को अच्छी तरह जानकर आहार तथा विहार में प्रवृत्ति करता है। ऐसा करने से उसके अल्प कर्मबन्ध होता है तो भी वह आहारादिक में उक्त प्रकार से प्रवृत्ति करता है॥ 31॥

शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया॥ 46॥

अर्थ - यदि मुनि अवस्थामें अरहन्त आदिमें भक्ति तथा परमागमसे युक्त महामुनियोंमें वत्सलतागोवत्सकी तरह स्नेहानुवृत्ति है तो वह शुभोपयोगसे युक्त चर्या है॥ 46॥

पाँच सफेद ज़हर से बचें

1. शक्कर
2. नमक
3. मैदा
4. चावल (पॉलिश वाला)
5. दूध (जरसी, अमेरिकन गाय)

नियमसार

व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप

अत्तागमतच्चाणं, सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो, सयलगुणप्पा हवे अत्तो॥5 ॥

अर्थः- आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो समस्त गुणों से तन्मय है ऐसा पुरूष आप्त कहलाता है॥ 5॥

अठारह दोषों का वर्णन

छुहतण्हभीरूरोसो, रागो मोहो चिंता जरा रूजा मिच्चू।
सेदं खेद मदो रइ, विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो॥ 6॥

अर्थः- क्षुधा, तृष्णा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग ये अठारह दोष हैं ॥6॥

निर्विकल्प तत्व का स्वरूप

णिद्दंडो णिद्दंदो, णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो, णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा॥43॥

अर्थः- आत्मा निर्दण्ड, मन वचन काय के व्यापार से रहित है, निर्द्वन्द्व है, निर्मम है, निष्कल-शरीररहित है, निरालंब है, निर्मूढ़ है और निर्भय है॥ 43॥

णिग्गंथो णीरागो, णिस्सल्लो, सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो, णिम्माणे णिम्मदो अप्पा॥44॥

अर्थः- आत्मा निर्ग्रंथ है, नीराग है, निःशल्य है, सकल दोषों से निर्मुक्त है, निष्काम है, निष्क्रोध है, निर्मान है और निर्मद है॥ 44॥

वण्णरसंगधफासा, थीपुंसणउसयादिपज्जाया।
संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति।।45।।

अर्थ:- वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, स्त्री, पुरूष, नपुंसकादि पर्याय, संस्थान और संहननादि पर्याय ये सभी जीवके नहीं हैं ॥45॥

असरीरा अविणासा, अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा, तह जीवा संसिदी णेया॥ 48॥

अर्थ:-जिस प्रकार लोकाग्र में स्थित भगवान शरीर रहित, अविनाशी, अतींद्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं उसी प्रकार (स्वभावदृष्टि से) संसार में स्थित जीव जो शरीर रहित, अविनाशी, अतींद्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं॥ 48॥

भेद-ज्ञान का अभ्यास

णाहं णारयभावो, तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं।।77॥

अर्थ:- मैं नरक पर्याय, तिर्यंच पर्याय, मनुष्य पर्याय अथवा देव पर्याय नहीं हूँ। निश्चय से मैं उनका न कर्ता हूँ, न करने वाला हूँ और न करने वालों की अनुमोदना करनेवाला हूँ॥77॥

ध्यान समस्त दोषों का प्रतिक्रमण

झाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिकमणं॥ 93॥

अर्थ:- ध्यान में लीन साधु सब दोषों का परित्याग करता है इसलिए निश्चयसे ध्यान ही सब अतिचारों-समस्त दोषों का प्रतिक्रमण है॥93॥

आत्मा का ध्यान किस प्रकार किया जाता है

केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो, सोहं इदि चिंतए णाणी॥ 96॥

अर्थ:-ज्ञानी जीव को इस प्रकार चिंतन करना चाहिए कि मैं केवलज्ञानस्वभावी हूँ, केवलदर्शनस्वभावी हूँ, सुखमय हूँ और केवलशक्तिस्वभावी हूँ।

भावार्थ- ज्ञान, दर्शन सुख और वीर्य ही मेरे स्वभाव हैं, अन्य विभाव हैं। इस प्रकार ज्ञानी जीव आत्मा का ध्यान करते हैं॥96॥

णियभावं णइ भुंच्चइ ,परभावं णेव गेण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं, सोहं इदि चिंतए णाणी॥ 97॥

अर्थ:- जो निजभाव को नहीं छोड़ता है, परभाव को कुछ भी ग्रहण नहीं करता है,मात्र सबको जानता देखता है वह मैं हूँ, इस प्रकार ज्ञानी जीवको चिंतन करना चाहिए॥ 97॥

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा।
सोहं इदि चिंतिज्जो, तत्थेव कुणदि थिरभावं॥98॥

अर्थ:- प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंधों से रहित जो आत्मा है वही मैं हूँ इस प्रकार चिंतन करता हुआ ज्ञानी जीव उसी आत्मा में स्थिरभाव को करता है॥98॥

ममत्तिं परिवज्जामि, णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा, अवसेसं च वोसरे॥99॥

अर्थ:- मैं ममत्व को छोड़ता हूँ और निर्ममत्व में स्थित होता हूँ, मेरा आलंबन आत्मा है और शेष सबका परित्याग करता हूँ॥99॥

आदा खु मज्झु णाणे, आदा में दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे॥100॥

अर्थ:- निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान में है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र में है, आत्मा ही प्रत्याख्यान में है और आत्मा ही संवर तथा योग-शुद्धोपयोग में है।

भावार्थ- गुण-गुणी में अभेद कर आत्मा ही को ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर तथा शुद्धोपयोगरूप कहा है॥100॥

जीव अकेला ही जन्म मरण करता है

एगो य मरदि जीवो, एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं, एगो सिज्झदि णीरयो॥101॥

अर्थ:- यह जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही स्वयं जन्म लेता है। एक का मरण होता है और एक ही कर्मरूपी रज से रहित होता हुआ सिद्ध होता है॥101॥

ज्ञानी जीव की भावना

एको में सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा में बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥102॥

अर्थ:- ज्ञान दर्शनवाला, शाश्वत एक आत्मा ही मेरा है। संयोगलक्षणवाले शेष समस्त भाव मुझसे बाह्य हैं॥ 102॥

आत्मगत दोषों से छूटने का उपाय

जं किंचि मे दुच्चरितं, सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिविहं, करेमि सव्वं णिरायारं॥103॥

अर्थ:-मेरा जो कुछ भी दुश्चारित्र-अन्यथा प्रवर्तन है उस सबको त्रिविध-मन वचन कायसे छोड़ता हूँ और जो त्रिविध (सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि के भेद से तीन प्रकार का) चारित्र है उस सबको निराकार-निर्विकल्प करता हूँ॥ 103॥

आशा परित्याग से ही समाधि

सम्मं मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता णं, समाहिं पडिवज्जए ॥104॥

अर्थ:-मेरा सब जीवों में साम्यभाव है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है। वास्तव में आशाओं का परित्याग कर समाधि प्राप्त की जाती है॥ 104॥

आलोचना किसकी होती है ?

णोकम्मकम्मरहियं, विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि, समणस्सालोयणं होदि ॥107॥

अर्थ:- जो नोकर्म और कर्मसे रहित तथा विभावगुणपर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करता है उस साधु की आलोचना होती है॥ 107॥

निश्चय प्रायश्चित्त का स्वरूप

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायच्छित्तं, अणवरयं चेव कायव्वो ॥113॥

अर्थ:-व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम तथा इंद्रियनिग्रहरूप जो भाव है वह प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त निरंतर करनेयोग्य है॥ 113॥

कषायों पर विजय प्राप्त करने का उपाय

कोहं खमया माणं, समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं, जयदि खु ए चहुविहकसाए ॥115॥

अर्थ- क्रोध को क्षमा से, मान को स्वकीय मार्दव धर्म से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से इस तरह चार कषायों को जीव निश्चय से जीतता है॥ 115॥

ध्यान ही सर्वस्व क्यों है ?

अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं।
सक्कदि काउं जीवो, तम्हा झाणं, हवे सव्वं ॥119॥

अर्थ:-आत्मस्वरूप का अवलंबन करनेवाले भाव से जीव समस्त विभाव भावों का निराकरण करने में समर्थ होता है इसलिए ध्यान ही सबकुछ है॥ 119॥

ध्यान से रत्नत्रय

सुहअसुहवयणरयणं, रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु णियमं हवे णियमा॥120॥

अर्थ:-शुभ-अशुभ वचनों की रचना तथा रागादिक भावों का निवारण कर जो आत्मा का ध्यान करता है उसके नियम से नियम अर्थात् निश्चय रत्नत्रय होता है॥120॥

ध्यान से परमसमाधि

वयणोच्चारणकिरियं, परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स॥122॥

अर्थ:-जो वचनोच्चारण की क्रिया को छोड़कर वीतराग भाव से आत्मा का ध्यान करता है उसके परमसमाधि होती है॥ 122॥

संजमणियमतवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स॥123॥

अर्थ:-जो संयम, नियम और तप से तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान के द्वारा आत्मा का ध्यान करता है उसके परमसमाधि होती है॥123॥

समता के बिना सब व्यर्थ है

किं काहदि वणवासो, कायकिलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी, समदा रहियस्स समणस्स॥124॥

अर्थः- समताभाव से रहित साधु का वनवास, कायक्लेश, नाना प्रकार का उपवास तथा अध्ययन और मौन आदि धारण करना क्या करता है? कुछ नहीं ॥124॥

स्थायी सामायिक व्रत किसके होता है ?

विरदो सव्वसावज्जे, तिगुत्ते पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥125॥

अर्थः- जो समस्त सावद्य-पापसहित कार्यों से विरत है, तीन गुप्तियों को धारण करनेवाला है तथा जिसने इंद्रियों को निरूद्ध कर लिया है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है॥ 125॥

जो समो सव्वभूदेसू, थावरेसु तसेसु वा।
तस्स समाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥126॥

अर्थः- जो स्थावर और त्रस सब जीवों में समभाववाला है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है॥ 126॥

जस्स सण्णिहिदो अप्पा, संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥127॥

अर्थः- जिसका आत्मा संयम, नियम तथा तप में सन्निहित रहता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है॥ 127॥

जस्स रागो दु दोसो दु, विगडिं ण जणेदि दु।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥128॥

अर्थः- राग और द्वेष जिसके विकार उत्पन्न नहीं करते हैं उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है॥128॥

जो दु अट्टं च रूद्दं च, झाणं वच्चेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥129॥

अर्थ:- जो निरंतर आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है ॥ 129 ॥

जो दु पुण्णं च पावं च, भावं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥130 ॥

अर्थ:- जो निरंतर पुण्य और पापरूप भावको छोड़ता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है ॥ 130 ॥

जो दु धम्मं च सुक्कं, झाणं झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥133 ॥

अर्थ:- जो निरंतर धर्म और शुक्ल ध्यान का ध्यान करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है ॥ 133 ॥

भक्ति से मुक्ति

सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥134 ॥

अर्थ:- जो श्रावक अथवा मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में भक्ति करता है उसे निवृत्ति भक्ति-मुक्ति की प्राप्ति हाती है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ॥ 134 ॥

गुरु भक्ति से भी मुक्ति

मोक्खंगयपुरिसाणं, गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्तिं, ववहारणयेण परिकहियं ॥135 ॥

अर्थ:- मोक्षको प्राप्त करनेवाले पुरूषों के गुणभेद को जानकर उनकी भी परम भक्ति करता है उसे भी निवृत्ति भक्ति-मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसा व्यवहारनयसे कहा गया है ॥135 ॥

आत्मवश कौन है ?

परिचत्ता परभावं, अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसं सो होदि हु, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ॥146॥

अर्थ:- जो परपदार्थ को छोड़कर निर्मल स्वभाववाले आत्मा का ध्यान करता है वह आत्मवश है। निश्चय से उसके कर्मको आवश्यक कर्म कहते हैं॥ 146॥

अन्तरात्मा-बहिरात्मा कौन ?

(तीन गाथा)

आवासएण जुत्तो, समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासय परिहीणो, समणो सो होदि बहिरप्पा ॥149॥

अर्थ:- जो साधु आवश्यक कर्म से युक्त है वह अंतरात्मा है ओर जो आवश्यक कर्म से रहित है वह बहिरात्मा है॥149॥

अंतरबाहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अंतरंगप्पा॥150॥

अर्थ:- जो साधु अंतर्जल्प और बाह्य जल्पमें वर्तता है वह बहिरात्मा है और जो (किसी भी प्रकार के) जल्पों में नहीं वर्तता है वह अंतरात्मा कहा जाता है॥150॥

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सोवि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो, बहिरप्पा इदि विजाणीहि॥51॥

अर्थ:- जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में परिणत है वह भी अंतरात्मा है। ध्यानविहीन साधु बहिरात्मा है ऐसा जानो॥151॥

प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं की सार्थकता

पडिकमणपहुदि किरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि॥ 152॥

अर्थ:- प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को करनेवाले के निश्चय चारित्र होता है और उस निश्चय चारित्र से साधु वीतराग चारित्र में उद्यत होता है।

प्रतिक्रमणादि भी स्वाध्याय

वयणमयं पडिकमणं, वयणमयं पच्चखाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं, तं सव्वं जाण सज्झाउं॥153॥

अर्थ:-जो वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान और वचनमय आलोचना है उस सबको तू स्वाध्याय जान।

भावार्थ- प्रतिक्रमण आदि के पाठ बोलना स्वाध्याय में गर्भित हैं॥ 153॥

न कर सकें तो श्रद्धा अवश्य करें

जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ, सद्दहणं चेव कायव्वं॥ 154॥

अर्थ:- हे मुनिशार्दूल! यदि करने की सामर्थ्य है तो तुझे ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करना चाहिए और यदि शक्ति से रहित है तो तुझे तब तक श्रद्धान ही करना चाहिए॥ 154॥

विवाद वर्जनीय है

णाणाजीवा णाणाकम्मं, णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो॥ 156॥

अर्थ - नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं और नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं,

इसलिये स्वधर्मियों और परधर्मियों के साथ वचन सम्बन्धी विवाद वर्जनीय है-छोड़ने के योग्य है ॥ 156 ॥

सम्यग्दर्शन का कारण

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अन्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी॥ 53॥

सम्यक्त्वका बाह्य निमित्त जिनसूत्र-जिनागम और उसके ज्ञायक पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय आदि कहा गया है।

साधक पाँच बातें सदैव याद रखें...

1. **काल सिर पर सवार है।**
2. **ये भी बीत जायेगा।**
3. **पाँव उठाते ही पाप लगता है।**
4. **कर्म का उदय है।**
5. **नज़र उठाते ही जहर चढ़ता है।**

अष्टपाहुड़

दर्शन पाहुड़

सम्यग्दृष्टि कौन?

छह दव्व णव पयत्था, पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं, सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥ 19॥

अर्थ:- छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व कहे गये हैं। जो उनके स्वरूप का श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए॥ 19॥

निश्चय एवं व्यवहार सम्यक्त्व

जीवादी सद्दहणं, सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो, अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥20॥

अर्थ:- जिनेन्द्र भगवान् ने सात तत्त्वों के श्रद्धान को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और शुद्ध आत्मा के श्रद्धान को निश्चय सम्यक्त्व बतलाया है॥ 20॥

सूत्रपाहुड़

वास्तविक सम्यग्दृष्टि

सुत्तत्थं जिणभणियं, जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा, जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी॥ 5॥

अर्थ:- जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये सूत्र के अर्थको, जीव-अजीवादि बहुत प्रकार के पदार्थों को तथा हेय-उपादेय तत्त्व को जानता है वही वास्तव में सम्यग्दृष्टि है॥ 5॥

चारित्रपाहुड़

दर्शन-ज्ञान-चारित्र

जं जाणइ तं णाणं, जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं।
णाणस्स पिच्छियस्स य, समवण्णा होइ चारित्तं ॥3॥

अर्थ:- जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है अर्थात् श्रद्धान करता है वह दर्शन कहा गया है तथा ज्ञान और दर्शन के संयोग से चारित्र होता है।

सम्यक्त्व से भ्रष्ट का कभी कल्याण नहीं

सम्मत्तचरणभट्ठा, संजमचरणं चरंति जे वि णरा।
अण्णाणणाणमूढा, तहवि ण पावंति णिव्वाणं ॥10॥

अर्थ:- जो मनुष्य सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट हैं किंतु संयमाचरण चारित्र का आचरण करते हैं वे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के विषय में मूढ़ होने के कारण निर्वाण को नहीं पाते हैं॥ 10॥

सम्यग्दृष्टि पुरुष के लक्षण

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए।
मग्गगुणसंसणाए, अवगूहण रक्खणाए य॥ 11॥

एएहिं लक्खणेहिं य,लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आराहंतो, जिणसम्मत्तं अमोहेण॥ 12॥

अर्थ:- मोहका अभाव होनेसे जिनोपदिष्ट सम्यक्त्व की आराधना करने वाला सम्यग्दृष्टि पुरूष वात्सल्य, विनय, दान देने में दक्ष, दया, मोक्षमार्ग की प्रशंसा, उपगूहन, संरक्षण-स्थितीकरण और आर्जवभाव इन लक्षणों से जाना जाता है॥11-12॥

बोध पाहुड़

चौदह मार्गणा

गइइंदिये च काए, जोए वेए कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा, भविया सम्मत्त सण्णि आहारे।।32 ॥

अर्थ:- गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार इन चौदह मार्गणाओं में अरहंत की स्थापना करनी चाहिए॥ 32 ॥

जिन दीक्षा क्या ?

णिग्गंथा णिस्संगा, णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा, पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।48 ॥

अर्थ:- जो परिग्रहरहित है, स्त्री आदि परपदार्थ के संसर्ग से रहित है, मानकषाय और भोग-परिभोग की आशासे रहित है, दोषसे रहित है, ममतारहित है और अहंकार से रहित है ऐसी जिनदीक्षा कही गयी है॥ 48 ॥

विवरीयमूढभावा, पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता।
सम्मत्तगुणविसुद्धा, पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ 52 ॥

अर्थ:- जिसका मूढ़भाव दूर हो गया है, जिसमें आठों कर्म नष्ट हो गये हैं, मिथ्यात्वभाव नष्ट हो गया है और जो सम्यग्दर्शनरूप गुण से विशुद्ध है ऐसी जिनदीक्षा कही गयी है॥ 52 ॥

तिलतुसमत्तणिमित्तं, समबाहिरग्गंथसंगहो णत्थि।
पव्वज्ज हवइ एसा,जह भणिया सव्वदरसीहिं ।।54 ॥

अर्थ:- जिसमें तिलतुषमात्र बाह्य परिग्रह का संग्रह नहीं है ऐसी जिनदीक्षा सर्वज्ञदेव के द्वारा कही गयी है ॥54 ॥

भावपाहुड़

बिना भाव लिंग के कल्याण नहीं

भावरहिओ ण सिज्झइ, जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मंतराइ बहुसो, लंबियहत्थो गलियवत्थो॥ 4॥

अर्थ:- भावरहित जीव यदि करोडों जन्म तक अनेक बार हाथ लटका कर तथा वस्त्रों का त्याग कर तपश्चरण करे तो भी सिद्ध नहीं होता॥ 4॥

समुद्र के जल से भी अधिक दुग्ध का पान

पीओसि थणच्छीरं, अणंतजम्मंतराइं जणणीणं।
अण्णाण्णाण महाजस, सायरसलिला दु अहिययरं॥18॥

अर्थ:- हे महायश के धारक! तूने अनंत जन्मों में अन्य अन्य माताओं के स्तन का इतना अधिक दूध पिया है कि वह इकट्ठा किया जानेपर समुद्र के जल से भी अधिक होगा॥18॥

समुद्र के जल से अधिक आँसू

तुह मरणे दुक्खेण, अण्णाण्णाणं अणेयजणणीणं।
रूण्णाण णयणणीरं, सायरसलिला दु अहिययरं॥19॥

अर्थ:- हे जीव! तुम्हारे मरनेपर दु:ख से रोने वाली भिन्न-भिन्न अनेक माताओं के आँसू समुद्र के जलसे भी अधिक होंगे॥ 19॥

सर्वपुद्गल भक्षण पर भी तृप्ति नहीं

गसियाइं पुग्गलाइं, भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं।
पत्तोसि तो ण तित्तिं, पुणरूत्तं ताइं भुज्जंतो॥ 22॥

अर्थ:- हे जीव! तूने लोक के मध्य में स्थित समस्त पुद्गलोंका भक्षण किया तथा उन्हें बार-बार भोगते हुए भी तृप्ति नहीं हुई॥ 22॥

अकालमृत्यु के कारण

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेणं।
आहरूस्सासाणं, णिरोहणा खिज्जए आऊ॥ 25॥

हिमजलणसलिलगुरूयरपव्वयतुरूरुहणपडणभंगेहिं।
रसविज्जजोयधारण, अणयपसंगेहिं विविहेहिं॥26॥

इय तिरियमणुयजम्मे, सुइरं उववज्जिऊण बहुबारं।
अवमिच्चुमहादुक्खं, तिव्वं पत्तोसि तं मित्त॥ 27॥

अर्थः- विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रग्रहण, संक्लेश, आहार निरोध, श्वासोच्छ्वासनिरोध, बर्फ, अग्नि, पानी, बड़े पर्वत अथवा वृक्षपर चढ़ते समय गिरना, शरीर का भंग, रसविद्या के प्रयोग से और अन्याय के विविध प्रसंगों से आयु का क्षय होता है। हे मित्र! इस प्रकार तिर्यंच और मनुष्य गति में उत्पन्न होकर चिरकाल से अनेक बार अकालमृत्युका अत्यंत तीव्र महादुःख तूने प्राप्त किया है॥ 25-27॥

क्षुद्रभव की गणना

वियलिंदए असीदी, सट्ठी चालीसमेव जाणेह।
पंचिंदियचउवीसं, खुद्दभवंतो मुहुत्तस्स॥ 29॥

अर्थः- हे जीव! अंतर्मुहुर्तके क्षुद्रभव में द्वींद्रियों के 80, त्रींद्रियों के 60, चतुरिंद्रियों के 40 और पंचेंद्रियों के 24 भव होते हैं ऐसा तू जान॥ 29॥

निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र

अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं, चरदिह चारित्तमग्गोत्ति॥ 31॥

अर्थः- आत्मा-आत्मा में लीन होता है यह सम्यग्दर्शन है, जीव उस आत्मा को जानता है यह सम्यग्ज्ञान है तथा उसी आत्मा में चरण करता है यह चारित्र है॥ 31॥

निश्चय भेद विज्ञान

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे॥ 58॥

अर्थ:- निश्चयसे मेरे ज्ञान में आत्मा है, दर्शन और चारित्र में आत्मा है, प्रत्याख्यान में आत्मा है, संवर और योग में आत्मा है॥ 58॥

एगो मे सस्सदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥ 59॥

अर्थ:- नित्य तथा ज्ञान दर्शन लक्षणवाला एक आत्मा ही मेरा है, उसके सिवाय परद्रव्य के संयोग से होनेवाले समस्त भाव बाह्य हैं- मुझसे पृथक् हैं ॥ 59॥

मात्र नग्नता से कल्याण नहीं

णग्गो पावइ दुक्खं, णग्गो संसारसायरे भमई।
णग्गो ण लहइ बोहिं, जिणभावणवज्जियं सुइरं॥68॥

अर्थ:- जो नग्न जिनभावना की भावना से रहित है वह दीर्घकाल तक दु:ख पाता है, संसार सागर में भ्रमण करता है और रत्नत्रयको नहीं प्राप्त करता है॥ 68॥

भाव लिंग बिना कल्याण नहीं

भावो हि दिव्वसिवसुक्ख भायणो भाववज्जिओ सवणो।
कम्ममलमलिणचित्तो, तिरियालयभायणो पावो॥74॥

अर्थ:- भाव ही इस जीवको स्वर्ग और मोक्ष के सुख का पात्र बनाता है। जो मुनि भाव से रहित है वह कर्मरूपी मैल से मलिन चित्त तथा तिर्यंच गतिका पात्र तथा पापी है॥ 74॥

तीन प्रकार के भाव

भावं तिविहपयारं, सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरूद्दं, सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं॥ 76॥

अर्थ:- भाव तीन प्रकार के जानना चाहिए-शुभ, अशुभ और शुद्ध। इनमें आर्त और रौद्र को अशुभ तथा धर्म्य ध्यान को शुभ जानना चाहिए। ऐसा जिनेंद्र देव ने कहा है॥ 76॥

तीर्थंकर प्रकृति का बंध कैसे

विसयविरत्तो सवणो, छद्दसवरकारणाइं भाऊण।
तित्थयरणामकम्मं, बंधइ अइरेण कालेण॥ 79॥

अर्थ:- विषयों से विरक्त रहनेवाला साधु सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन कर थोड़े ही समय में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है॥ 79॥

जिनधर्म ही सर्वश्रेष्ठ

जह रयणाणं पवरं, वज्जं जह तरूगणाण गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं, जिणधम्मं भाविभवमहणं॥ 82॥

अर्थ:- जिस प्रकार रत्नों में हीरा और वृक्षों के समूह में चंदन सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार समस्त धर्मों में संसार को नष्ट करने वाला जिनधर्म सर्वश्रेष्ठ है ऐसा तू चिंतवन कर॥ 82॥

धर्म क्या ?

पूयादिसु वयसहियं, पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो॥ 83॥

अर्थ:- पूजा आदि शुभ क्रियाओं में व्रतसहित जो प्रवृत्ति है वह पुण्य है तथा मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का जो भाव है वह धर्म है ऐसा जिनशासन में जिनेंद्र भगवान् ने कहा है॥ 83॥

पुण्य के श्रद्धान से कर्म क्षय नहीं

सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं, ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥84॥

अर्थ:- जो मुनि पुण्यका श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, उसे अच्छा समझता है और बार-बार उसे धारण करता है उसका यह सब कार्य भोग का ही कारण है, कर्मों के क्षयका कारण नहीं है॥ 84॥

धर्म से ही संसार सागर पार होना

अप्पा अप्पम्मि रओ, रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदुं, धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥ 85॥

अर्थ:- रागादि समस्त दोषों से रहित होकर जो आत्मा आत्मस्वरूप में लीन होता है वह संसारसमुद्र से पार होने का कारण धर्म है ऐसा श्री जिनेंद्रदेव ने कहा है॥ 85॥

जिनदेव की भावना कर

मच्छो वि सालिसित्थो, असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं, भावह जिणभावणं णिच्चं॥88॥

अर्थ:- अशुद्ध भावों का धारक शालिसिक्थ नामका मच्छ सातवें नरक गया ऐसा जानकर हे मुनि! तू निरंतर आत्मा में जिनदेव की भावना कर॥ 88॥

सच्चा साधक

भंजसु इंदियसेणं, भंजसु मण मक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरणं, बाहिरवयवेस तं कुणसु॥90॥

अर्थ:- तू इंद्रिय रूपी सेना को भंग कर और मनरूपी बंदर को प्रयत्नपूर्वक वश कर। हे बाह्यव्रत के वेषको धारण करनेवाले तू! लोगों को प्रसन्न करनेवाले कार्य मत कर॥ 90॥

श्रुतज्ञान की भावना

तित्थयरभासियत्थं, गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
भावहि अणुदिणु अतुलं, विसुद्धभावेण सुयणाणं॥92॥

अर्थ:- जिसका अर्थ तीर्थंकर भगवान् के द्वारा कहा गया है तथा गणधरदेवने जिसकी सम्यक् प्रकार से ग्रंथरचना की है, उस अनुपम श्रुतज्ञानका तू विशुद्ध भावना से प्रतिदिन चिंतन कर॥ 92॥

दीक्षा काल की भावना कर

दिक्खाकालाईयं, भावहि अवियारदंसणविसुद्धो।
उत्तमबोहिणिमित्तं, असारसाराणिमुणिऊण॥110॥

अर्थ:- हे विचाररहित मुनि, तू उत्तम रत्नत्रय के लिए संसार को असार जानकर सम्यग्दर्शन से विशुद्ध होता हुआ दीक्षाकाल आदि का विचार कर॥ 110॥

परिणामों की महत्ता

पावं हवइ असेसं, पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा।
परिणामादो बंधो, मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो॥116॥

अर्थ:- समस्त पाप और समस्त पुण्य परिणाम से ही होता है तथा बंध और मोक्ष भी परिणाम से ही होता है ऐसा जिनशासन में कहा गया है॥ 116॥

ध्यान रूपी दीपक

जह दीवो गब्भहरे, मारूयबाहा विवज्जिओ जलइ।
तह रायाणिलरहिओ, झाणपईवो वि पज्जलई॥123॥

अर्थ:- जिस प्रकार गर्भगृह में रखा हुआ दीपक हवा की बाधा से रहित होकर जलता है उसी प्रकार रागरूपी हवा से रहित ध्यानरूपी दीपक जलता रहता है॥ 123॥

झट कर ले हित

उत्थरइ जा ण जरओ, रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं।
इंदियबलं ण वियलइ, ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥132॥

अर्थ:- हे मुनि! जब तक बुढ़ापा आक्रमण नहीं करता है, रोगरूपी अग्नि जब तक शरीररूपी कुटीको नहीं जलाती है और इंद्रियों का बल जबतक नहीं घटता है तबतक तू आत्मा का हित करले ॥132॥

363 मत कैसे ?

असियसय किरियावाई, अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी।
सत्तट्ठी अण्णाणी, वेणईया होंति बत्तीसा ॥137॥

अर्थ:- क्रियावादियों के एक सौ अस्सी, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानियों के सड़सठ और वैनयिकों के बत्तीस भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर मिथ्यादृष्टि के 363 भेद हैं॥ 137॥

शव अपूज्य

जीवविमुक्को सवओ, दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोयअपुज्जो, लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥143॥

अर्थ:- इस लोक में जीवरहित शरीर शव कहलाता है और सम्यग्दर्शन से रहित जीव चल शव-चलता-फिरता मुर्दा कहलाता है। इनमें से शव इस लोक में अपूज्य है और चल शव-मिथ्यादृष्टि परलोक में अपूज्य है॥ 143॥

मोह लता को ज्ञान रूपी शस्त्र से काटना

मायावेल्लि असेसा, मोहमहातरूवरम्मि आरूढा।
विसयविसपुप्फफुल्लिय, लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥158॥

अर्थ:- मोहरूपी महावृक्ष पर चढ़ी हुई तथा विषयरूपी विष पुष्पों से फूली हुई संपूर्ण मोहरूपी लता को मुनिजन ज्ञानरूपी शस्त्र के द्वारा छेदते हैं॥ 158॥

मोक्षपाहुड़

पर द्रव्यों से विरत रहो

पर दव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं।
एसो जिणउवएसो, समासदो बंधमोक्खस्स॥ 13॥

अर्थ:- परद्रव्यों में रत पुरूष नाना कर्मों से बंधको प्राप्त होता है और परद्रव्य से विरत पुरूष नाना कर्मों से मुक्त होता है। बंध और मोक्ष के विषय में जिनेंद्र भगवान् का यह संक्षेप से उपदेश है॥ 13॥

स्वद्रव्य में रत रहें

सद्दव्वरओ सवणो, सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि॥ 14॥

अर्थ:-स्वद्रव्यमें रत साधु नियम से सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्त्वरूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मों को नष्ट करता है॥ 14॥

परद्रव्य में रत साधु की परिणति

जो पुण परदव्वरओ, मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।
मिच्छत्तपरिणदो पुण, बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं॥ 15॥

अर्थ:- जो साधु परद्रव्य मे रत है वह मिथ्यादृष्टि होता है और मिथ्यात्वरूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मों से बँधता है॥ 15॥

तत्त्व के प्रति रुचि रहे

तच्चरूई सम्मत्तं, तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं।
चारित्तं परिहारो, परुवियं जिणवरिंदेहिं॥ 38॥

अर्थ:- तत्त्वरूचि होना सम्यग्दर्शन है, तत्त्वज्ञान होना सम्यज्ञान है ओर पाप क्रिया का परिहार-त्याग होना सम्यक्चारित्र है, ऐसा जिनेंद्र भगवान् ने कहा है॥ 38॥

ध्यान तप से मुक्ति

जो रयणत्तयजुत्तो, कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं, झायंतो अप्पयं सुद्धं॥ 43॥

अर्थ:- रत्नत्रयको धारण करनेवाला जो मुनि शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ अपनी शक्ति से तप करता है वह परम पद को प्राप्त होता है॥ 43॥

परमाणु प्रमाण भी तेरा नहीं

परमाणुपमाणं वा, परदव्वे रदि हवेदि मोहादो।
सो मूढो अण्णाणी, आदसहावस्स विवरीदो॥69॥

अर्थ:- जिसकी अज्ञानवश परद्रव्य में परमाणुप्रमाण भी रति है वह मूढ़ है, अज्ञानी है और आत्मस्वभाव से विपरीत है॥ 69॥

निर्वाण की प्राप्ति किन्हें

अप्पा झायंताणं, दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं।
होदि धुवं णिव्वाणं, विसएसु विरत्तचित्ताणं॥ 70॥

अर्थ:- जो आत्मा का ध्यान करते हैं, जिनके सम्यग्दर्शन की शुद्धि विद्यमान है, जो दृढ़ चारित्र के धारक हैं तथा जिनका चित्त विषयों से विरक्त है ऐसे पुरूषों को निश्चित ही निर्वाण प्राप्त होता है॥ 70॥

भगवान के वचन सिद्धि का कारण

एवं जिणेहि कहियं, सवणाणं सावयाण पुण सुणसु।
संसार विणासयंर, सिद्धियरं कारणं परमं॥ 85॥

अर्थ:- इस प्रकार जिनेंद्र भगवान् के द्वारा बार-बार कहे हुए वचन मुनियों तथा श्रावकों के संसार को नष्ट करनेवाले तथा सिद्धिको प्राप्त करानेवाले उत्कृष्ट कारणस्वरूप हैं॥85॥

दु:ख क्षय का उपाय

गहिऊण य सम्मतं, सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं।
तं झाणे झाइज्जइ, सावय दुक्खक्खयट्ठाए॥ 86॥

अर्थ:- हे श्रावक! (हे सम्यग्दृष्टि उपासक अथवा हे मुने!) अत्यंत निर्मल और मेरूपर्वत के समान निश्चय सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर दु:खों का क्षय करने के लिए ध्यान में उसी का ध्यान किया जाता है॥ 86॥

सम्यग्दर्शन की महिमा

सम्मत्तं जो झायदि, सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण, खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि॥ 87॥

अर्थ:- जो जीव सम्यक्त्व का ध्यान करता है वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है और सम्यक्त्वरूप परिणत हुआ जीव दुष्ट आठ कर्मों का क्षय करता है॥ 87॥

सच्ची श्रद्धा वाला शूरवीर

ते धण्णा सुकयत्था, ते सूरा ते वि पडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं, सिविणे वि य मइलियं जेहिं॥89॥

अर्थ:- वे ही मनुष्य धन्य हैं, वे ही कृतकृत्य हैं, वे ही शूरवीर हैं और वे ही पंडित है जिन्होंने सिद्धि को प्राप्त कराने वाले सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है॥ 89॥

सम्यग्दर्शन

हिंसारहिए धम्मे, अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथेपावयणे, सद्दहणं होइ सम्मत्तं॥ 90॥

अर्थ:- हिंसारहित धर्म, अठारह दोषरहित देव, निर्ग्रंथ गुरू और अर्हत्प्रवचन-समीचीन शास्त्र में जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है॥ 90॥

सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि

सम्माइट्ठी सावय, धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि।
विवरीयं कुव्वंतो, मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो॥ 94॥

अर्थ:- सम्यग्दृष्टि श्रावक अथवा मुनि जिनदेव के द्वारा उपदेशित धर्म को करता है। जो विपरीत धर्म को करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए॥ 94॥

सीलपाहुड़

थोड़ा तप भी महाफल का कारण

णाणं चरित्तसुद्धं, लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं।
संजमसहिदो य तवो, थोओ वि महाफलो होइ॥6॥

अर्थ:- चारित्र से शुद्ध ज्ञान, दर्शन से शुद्ध लिंगधारण और संयम से सहित तप थोड़ा भी हो तो भी वह महाफल से युक्त होता है ॥ 6॥

विषय-विष का प्रभाव

वारि एकम्मि य जम्मे,मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहया णं, भमति संसारकांतारे॥ 22॥

अर्थ:- विष की वेदना से पीड़ित हुआ जीव एक जन्म में एक ही बार मरण को प्राप्त होता है परंतु विषय रूपी विष से पीड़ित हुए जीव संसार रूपी अटवी में निश्चय से भ्रमण करते रहते हैं॥ 22॥

सिद्ध का स्वरूप

णिद्दड्ढअट्ठकम्मा, विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा।
तवविणयसीलसहिदा, सिद्धा सिद्धिंगदिं पत्ता॥35॥

अर्थ:- जिन्होंने इंद्रियों को जीत लिया है, जो विषयों से विरक्त हैं, धीर हैं अर्थात् परिषहादि के आनेपर विचलित नहीं होते हैं जो तप विनय और शील से सहित हैं ऐसे जीव आठ कर्मों को समग्ररूप से दग्ध कर सिद्ध गति को प्राप्त होते हैं अर्थात् उनकी सिद्ध संज्ञा है॥ 35॥

सम्यक्त्व-शील से युक्त ज्ञान ही कार्यकारी

अरहंते सुहभत्ती, सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।
सीलं विसयविरागो, णाणं पुण केरिसं भणियं॥40॥

अर्थ:- अरहंत भगवान् में शुभ भक्ति होना सम्यक्त्व है, यह सम्यक्त्व तत्त्वार्थश्रद्धान से अत्यंत शुद्ध है और विषयों से विरक्त होना ही शील है। ये दोनों ही ज्ञान हैं, इनसे अतिरिक्त ज्ञान कैसा कहा गया है?

भावार्थ- अन्य मतों में ज्ञान को सिद्धि का कारण कहा गया है परंतु जिस ज्ञान के साथ सम्यक्त्व तथा शील नहीं है वह अज्ञान है, उस अज्ञानरूप ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती ॥40॥

मात्र ज्ञान से भाव श्रमणत्व नहीं

अंगाइं दस य दुण्णि य, चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं।
पढिओ अ भव्वसेणो, ण भाव सवणत्तणं पत्तो॥ 52॥ (भा.पा.)

अर्थ -भव्यसेन नामक मुनि ने बारह अंग और चौदह पूर्व रूप समस्त श्रुतज्ञान को पढ़ लिया तो भी वह भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुआ॥ 52॥

जिनमत में मात्र तीन ही लिंग (दर्शन) चौथा नहीं

एगं जिणस्स रूवं, विदियं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं, चउत्थ पुण लिंग दंसणं णत्थि॥ (द.पा.18)

अर्थ - जिनमत में तीन लिंग (वेष) बतलाये हैं, उनमें पहला जिनेन्द्र भगवान का निर्ग्रंथ लिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक-ऐलक-क्षुल्लकों का वेष हैं एवं तीसरा आर्यिकाओं का, इसके सिवाय चौथा लिंग होता ही नहीं है॥ द.पा.18॥

द्वादशानुप्रेक्षा

अनित्यानुप्रेक्षा

जलबुब्बुदसक्क धणुखणरूचिघणसोहमिव थिरंण हवे।
अहमिंदट्ठाणाइं, बलदेवप्पहु दिपज्जाया॥ 5॥

अर्थ:- अहमिंद्र के पद और बलदेव आदि की पर्यायें जल के बुलबुले, इंद्रधनुष, बिजली और मेघकी शोभा के समान- स्थिर रहनेवाली नहीं हैं॥ 5॥

अशरणानुप्रेक्षा

मणिमंतोसहरक्खा,हयगयरहओ य सयलविज्जाओ।
जीवाणं ण हि सरणं, तिसु लोए मरणसमयम्हि॥8॥

अर्थ:- मरण के समय तीनों लोकों मे मणि, मंत्र, औषधि, रक्षक सामग्री, हाथी, घोड़े, रथ और समस्त विद्याएँ जीवों के लिए शरण नहीं है अर्थात् मरण से बचाने में समर्थ नहीं हैं॥8॥

अन्यत्वानुप्रेक्षा

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो।
जीवस्स ण संबंधो, णियकज्जवसेण वट्टंति॥ 21॥

अर्थ:-माता, पिता, सगा भाई, पुत्र तथा स्त्री आदि बंधुजनों-इष्ट जनों का समूह जीव से संबंध रखनेवाला नहीं है। ये सब अपने कार्य के वश साथ रहते हैं॥ 21॥

संसारानुप्रेक्षा

पंचविहे संसारे, जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो, जीवो परिभमदि चिरकालं॥24॥

अर्थ:- जिन भगवान के द्वारा प्रणीत मार्गकी प्रतीति को नहीं करता हुआ जीव चिरकाल से जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से परिपूर्ण पाँच प्रकार के संसार में परिभ्रमण करता रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पाँच परिवर्तन ही पांच प्रकार का संसार कहलाते हैं ॥ 24 ॥

रसरूहिरमंसमेदट्ठी मज्जसंकुलं मुत्तपूयकिमिबहुलं।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं ॥ 45 ॥

अर्थ:- यह शरीर रस, रूधिर, मांस, चर्बी, हड्डी तथा मज्जा से युक्त है। मूत्र, पीव और कीड़ों से भरा है, दुर्गंधित है, अपवित्र है, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन है और पतनशील है- नश्वर है ॥ 45 ॥

आस्रवानुप्रेक्षा

मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य आसवा होंति।
पण पण चउ तिय भेदा, सम्मं परिकित्तिदा समये ॥47 ॥

अर्थ:- मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव हैं। उक्त मिथ्यात्व आदि आस्रव क्रम से पाँच, पाँच, चार और तीन भेदों से युक्त हैं। आगम में इनका अच्छी तरह वर्णन किया गया है ॥ 47 ॥

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं।
जिणदेवादिसु पूजा, सुहकायं ति य हवे चेट्ठा ॥55 ॥

अर्थ:- जो वचन संसार का छेद करने में कारण है वह शुभ वचन है ऐसा जिनेंद्र भगवान् ने कहा है तथा जिनेंद्रदेव आदि की पूजा रूप जो चेष्टा-शरीर की प्रवृत्ति है वह शुभकार्य है ॥ 55 ॥

संवरानुप्रेक्षा

चलमलिणमगाढं च, वज्जिय सम्मत्तदिढकवाडेण।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥61 ॥

अर्थः- चल मल और अगाढ़ दोषको छोड़कर सम्यक्त्वरूपी दृढ़ कपाटों के द्वारा मिथ्यात्वरूपी आस्रवद्वार का निरोध हो जाता है ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है ॥ 61 ॥

धर्मानुप्रेक्षा

एयारसदसभेयं, धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं, उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ॥ 68 ॥

अर्थः- उत्तम सुख से संपन्न जिनेंद्र भगवान् ने कहा है कि गृहस्थों तथा मुनियों का वह धर्म क्रम से ग्यारह और दश भेदों से युक्त है तथा सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है ॥ 68 ॥

गृहस्थ के ग्यारह धर्म

दंसणवयसामाइय पोसहसच्चित्तराइभत्ते य।
बम्हारंभपरिगह, अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदे य ॥ 69 ॥

अर्थः- दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तव्रत, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये देशविरत अर्थात् गृहस्थ धर्म के भेद हैं ॥ 69 ॥

बोधिदुर्लभ भावना

उप्पज्जदि सण्णाणं, जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोही, अच्चंतं दुल्लहं होदि ॥ 83 ॥

अर्थः- जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपाय की चिंता बोधि है, यह बोधि अत्यंत दुर्लभ है ॥ 83 ॥

सच्चे राष्ट्र चिंतक संत – आचार्य विद्यासागर जी

परम पूज्य संत शिरोमणि आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज के बारे में कुछ भी कहना सूरज को दीपक दिखाने जैसा ही है उनके गुणों का बखान तो समुद्र की गहराई को नमक की पुतली से नापने जैसा है। वो इतना चले की चलते-चलते स्वयं राह बन गये, वो इतना तपे की तपते-तपते स्वयं तप बन गये। एक बात अवश्य कहना चाहता हूँ आचार्य श्री परम आध्यात्मिक पुरुष हैं। आचार्य कुन्द-कुन्द के बताये मार्ग पर स्वयं चल रहे हैं और अन्य को चला रहे हैं। वे मूलाचार की चर्या का पालन करते हुए समयसार में लीन रहते हैं किन्तु जब वर्तमान भारत की दशा देखते हैं तो बहुत दु:खी होते हैं।

जिन्हें आत्मा की बात बतानी चाहिये वे अब इंसान बनाने की बात करते हैं। जिनकी चौकी पर समयसार आदि महान ग्रन्थ रहते थे वहाँ अब मेरे सपनों का भारत जैसी पुस्तक देखने को मिलती है।

अब समय आ गया है जागने का। आचार्य श्री जो कह रहे हैं उसको समझने एवं उस पर चलने का। वे अपने अनुभव से हमें बता रहे हैं। अपने इतिहास को लौटाने की आवश्यकता है। कुछ मुख्य बिन्दु जो उस इतिहास को लौटाने के लिये आचार्य श्री परम आवश्यक मानते हैं।

१. अंग्रेजी माध्यम हटाकर हिन्दी माध्यम लाना।
२. इण्डिया नहीं भारत का प्रयोग करना।
३. हथकरघा के माध्यम से रोजगार की बहुत बड़ी समस्या दूरकर शुद्ध जीवनशैली अपनाना।
४. कृषि एवं पशुपालन (गौपालन) से रामराज्य की स्थापना करना।
५. शिक्षा को जीवन में प्रायोगिक बनाना (७२ कलाओं से युक्त करना)।

पूज्य आचार्य श्री संकेत बहुत कम करते हैं, अब यदि समाज-देश के लिये संकेत किये हैं तो हमें अक्षरश: पालन कर इस मार्ग पर बढ़ जाना चाहिये। इसी में हमारी भलाई है। शुरुआत किसी दूसरे से नहीं अपने से करना प्रारम्भ कर देना चाहिये। स्वाभिमान को जाग्रत कर गुरुवाणी को अपनाने की महती आवश्यकता है। समझदार के लिये ईशारा ही काफी है।

आओ खायें जीने के लिए

चैत्र चना, बैशाखे बेल, जेठे शयन, आषाढे खेल।
सावन हर्रे, भादों तिल, क्वार मास में गुड़ सेवे नित।
कार्तिक करेला, अगहन तेल, पुषे करे दूध से मेल।
माघ मास में घी खिचड़ी खाय, फागुन उठे नित प्रति नहाय।
इन बारह से करे मिलाई, तो काहे घर बैद्य बुलाई।

चैते गुड, बैशाखे तेल, जेठ राई, आषाढे बेल।
सावन नींबू, भादो मही, क्वार करेला, कार्तिक दही।
अगहन जीरा, पुसे धना, माघ मसुर, फागुन चना।

जो इन बारह को खाय, बिना निमन्त्रण स्वर्ग जाय।
इन बारह से बचे जो भाई, तो काहे घर बैद्य बुलाई॥

पाँच सफेद जहर

नमक, शक्कर, मैदा, पॉलिस वाले चावल
एवं जर्सी गाय का दूध
(जीने के लिए इन पाँच सफेद जहर का त्याग कर दें)

NOTES

राजस्थान की राजधानी जयपुर (गुलाबी नगरी) के गौरव

परम पूज्य मुनिश्री 108 संधानसागर जी मुनिराज

जन्म	:	25 सितम्बर 1976 (आश्विन सुदी-2)
जन्म स्थान	:	जयपुर (राजस्थान)
पूर्व नाम	:	बा.ब्र. रोहित भैया जी जैन (काला)
पिता	:	श्री अशोक जी जैन (काला)
माता	:	श्रीमती आशा देवी जी जैन (काला)
मुनि दीक्षा तिथि	:	31 जुलाई 2015, शुक्रवार, द्वितीय आषाढ़ शुक्ल 15 (गुरुपूर्णिमा)
मुनि दीक्षा स्थान	:	श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र बीना बारहा, तह. देवरी, जिला-सागर (म.प्र.)
दीक्षा गुरु	:	आचार्य श्री 108 विद्यासागरजी महाराज
संकलित कृतियाँ	:	बाल संस्कार सौरभ (1, 2, 3 एवं 4 भाग), आत्म आराधना, पूजा प्रसून, अभिवंदना, माण्डना, शान्तिधारा, प्रमाणिक कहानियाँ (1, 2, 3 एवं 4 भाग), प्रतिभागान, आ.श्री के प्रवचन (1 से 14 भाग)

सभी साहित्य एवं आचार्य श्री के प्रवचन (14 भाग में) उपलब्ध हैं -
aagamdata.blogspot.in

भावना
भव नाशनी
भाग-1
संकलन/सम्पादन
बा.ब्र. रोहित भैया
(सभापति संयमस्वर्ण जी महाराज)
संघस्थ आचार्य श्री 108 विशालनन्दजी महाराज